

निवेदन

काव्य की परिभाषा सस्कृत के भिन्न-भिन्न कविगो, विद्वानों और साहित्यकारों ने अपने-अपने ढंग पर अलग-अलग की है। किसी ने काव्य की उपमा सर्वालकार-विभूषिता मनोरमा सुन्दरी स्त्री से दी है, जिसका शरीर शब्द और अर्थ, जिसका आत्मा रस और जिसके आभूषण उपमा, अनुप्रास आदि अलंकार हैं। किसी ने रस को काव्य का प्राण माना है। बिना रस के काव्य वंसा ही निर्जीव है जैसे बिना प्राण के शरीर। किसी ने ध्वनि को ही काव्य का आत्मा स्वीकार किया है। किसी ने काव्य के गुणों से युक्त तथा काव्य के दोषों से मुक्त, शब्द और अर्थ के समूह को, काव्य की पदवी दी है। किसी ने रमणीय अर्थ के देनेवाले शब्दों को ही काव्य कहा है। किसी ने औचित्य (propriety) अर्थात् शब्दों के उचित प्रयोग को ही काव्य का मुख्य तत्त्व माना है। किसी ने काव्य में अलंकारों को ही सबसे अधिक महत्व दिया है, इत्यादि।

किन्तु काव्य की परिभाषा या व्याख्या जो भी हो, सबका तोड़ इस बात पर है कि उत्तम काव्य वही है जिसमें कोई चमत्कार हो, कोई विचित्रता हो, कोई अनोखापन हो, कहने का ढंग नया हो, केवल पिष्टपेषण या तुलवन्दी मात्र न हो। आखिर सबके है पर चिंतन में भेद है। आखिर में जो चिंतन है वही काव्य में चमत्कार या अनोखापन है। इसी दृष्टि को लेकर ही मैंने इस पुस्तक में अनेकी सूक्त के कुछ सस्कृत श्लोकों का

संग्रह किया है। यदि इससे रसिक पाठकों का मनोरंजन हुआ और संस्कृत काव्य के प्रति लोगों की रुचि बढ़ी, तो मैं अपना प्रयास सार्थक समझूँगा।

लगभग चालीस वर्ष हुए इसी प्रकार का और इसी नाम से मेरा एक छोटा-सा मनोरंजक श्लोकों का संग्रह, कलकत्ते में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी द्वारा प्रकाशित हुआ था। उस समय उस-पर स्व० आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी जो बहुमूल्य सम्मति प्रदान की थी, नीचे अन्यत्र दी गयी है। यह वर्तमान संग्रह उसी छोटी-सी पुस्तक का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है।

—जनादेन भट्ट

स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सम्मति

इस संग्रह की छैर करके मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। प्रायः सभी श्लोक अनोखे हैं और अनेक विषयों के हैं। शृंगार-रस की उक्तियाँ अनोखी होने पर भी उद्वेगजनक नहीं। भावार्थ लिख देने से केवल हिन्दी जाननेवाले भी इससे आनन्दप्राप्ति कर सकेंगे। श्लोक कण्ठ करने लायक हैं। लोगों की रुचि संस्कृत की ओर बढ़ रही है। इस दशा में, आशा है, सभी सर्वसाधारण जन इसे बहुत पसन्द करेंगे। यह मेरी सच्ची राय है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. मगलाचरण	१
२. भक्तों के हृदयोद्गार	६
३. लक्ष्मी और सरस्वती का विवाद	२०
४. ऋतु वर्णन	२६
५. प्रभात और सूर्योदय	४७
६. सूर्यास्त और चन्द्रोदय	५४
७. जल-विहार	६६
८. विरह-वेदना	७२
९. मग-सौन्दर्य	१०१
१०. यश और प्रताप	११५
११. कवि और काव्य	१२८
१२. कवियों की गद्योक्ति	१३६
१३. कामदेव की विभिन्न महिमा	१४०
१४. निर्घन गृहस्थ	१४७
१५. सज्जन और दुर्जन	१५८
१६. पीरप और भाग्य	१६७
१७. नीति के वाक्य	१७७
१८. संसार की असारता	१८०
१९. मनोली गद्योक्तियाँ	२०१
२०. हास्य और व्यंग	२१५

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
१. पूव	पूर्वं	१५
२. छाया	छायाः	३४
३. हेमन्ती	हेमन्त	४४
४. जगदिदिमहो	जगदिदमहो	६२
५. कलीन	कुलीन	७०
६. करने भी	करने पर भी	८६
७. आस	आसू	९३
८. भ्रूतुलायेतु	भ्रूतुलामेतु	१०५
९. हिमाशो :	हिमाशो :	१०७.
१०. क वृत्तान्तं	किं वृत्तान्तः	१२०
११. सित	सित	१२१
१२. जाता	जाना	१४६
१३. प्रवेष्टिनम्	यावेष्टिनम्	१६१
१४. यचनीयमात्र	यचनीयमत्र	१६१
१५. पतितोऽपि	पातिनोऽपि	१८४
१६. नटः	नर	१९०
१७. तावदुपमदमरागु	तानदुपमर्दसहागु	२०७

संस्कृत कवियों
की
अनोखी सूझ

मंगलाचरण

१

जेतुं यस्त्रिपुरं हरेण हरिणा व्याजाद्वलिं बध्नता
 स्त्रष्टुं वारिभवोद्भवेन भुवनं शोषेण धतुं धराम् ।
 पार्वत्या महिषासुरप्रमथने सिद्धाधिपं सिद्धये
 ध्यातः पञ्चशरेण विश्वविजये परयात्स नागाननः ॥

भाषार्थः—भगवान् शकर ने त्रिपुरासुर को विजय करते समय, विष्णु ने छल से राजा बलि को बाँधते समय, ब्रह्मा ने सृष्टि का निर्माण करते समय, शेषनाग ने पृथ्वी को अपने मस्तक पर धारण करते समय, पार्वती ने महिषासुर का मर्दन करते समय, सिद्धाधिपों ने सिद्धि को प्राप्त करने के लिए तथा कामदेव ने विश्व को विजय करने के समय जिन गणेश जी का ध्यान किया था, उन गणेश जी को नमस्कार है । ऐसे गणेश जी हमारी आपकी और सबकी रक्षा करें ।

२

हृदयं कौस्तुभोद्भासि हरे : पुष्पातु वः श्रियम् ।
 राधाप्रवेशरोधाय दत्तमुद्रमिव श्रिया ॥

भाषार्थः—भगवान् विष्णु का वह हृदय आपकी श्री की

वृद्धि करे, जो कौस्तुभ मणि से अलंकृत होकर अननो छटा चारों ओर फैला रहा है। इस पर कवि की कल्पना है कि यह कौस्तुभ मणि नहीं है, बरन् मुहर की एक छाप है, जो लक्ष्मी ने विष्णु के हृदय पर इसलिये लगा दी है कि इस हृदय पर मेरा ही एकाधिकार रहे, मेरी सीत राधा इसके अन्दर कभी भी प्रवेश न पा सके।

३

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामांबुदोपमः ।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेय राजते ॥

भावार्थ — नीलकण्ठ महादेव का ~~कण्ठ~~ मेघ के समान नीला कण्ठ आपको रक्षा करे, जिस कण्ठ पर पार्वती की सुकुमार गौरी भुज-लता विजली की रेखा के सदृश चमक रही है। महादेव के नीले कण्ठ की उपमा काले मेघ से और पार्वती की भुजा की उपमा विजली की रेखा से दी गई है। जिस प्रकार काले मेघ में विजली चमकती हुई शोभायमान होती है, उसी प्रकार महादेव जो के नीले कण्ठ पर पड़ी हुई पार्वती की चमकती हुई भुज-लता सुशोभित हो रही है।

४

विहाय पीयूषरसं मुनीश्वराः ममाङ्घ्रिराजोवरसं पिबन्ति किम् ।
इति स्वपादाम्बुजपानकौतुको स गोपबालः श्रियमातनोतु वः ॥

भावार्थः—शिशु गोपाल अपने पैर का अगूठा चूस रहे हैं—
इस पर किसी कवि की अनोखी, सूझ है—‘बड़े-बड़े ऋषि-मुनि

अमृतरस के पान को छोड़कर मेरे चरणकमल के रस को क्यों पिया करते हैं, देखें इसका स्वाद कैसा है ?'—इसी बात को जानने की इच्छा से ही मानो बालक कृष्ण अपना पैर मुख में रसकर चूस रहे हैं । ऐसे बालक कृष्ण आपका भगल करें ।

५

मातः किं यदुनाय देहि चपकं किं तेन पातुं पयः
तन्नास्त्यद्य कदास्ति वा निशि निशा का बान्धकारोदये ।
आमील्याक्षिपुग निशाप्युपगता देहीति मातुर्मुहुः
यक्षोजांशुककर्पणोद्यतकरः कृष्णः स पुण्यातु वः ॥

भावार्थः—यशोदा कृष्ण को नियमित समय के अनुसार ही अपने स्तनो से दूध पिलाती थी । एक दिन कृष्ण ने अनियमित समय में दूध पीने की माँग की । इस पर देखिये यशोदा और कृष्ण का प्रदोत्तर कैसा सुन्दर है :—

कृष्ण—“माँ !” यशोदा—“क्या यदुनाय ?” कृष्ण—
“दूध पिलाओ ।” यशोदा—“अभी नहीं ।” कृष्ण—“फिर कब ?”
यशोदा—“रात को ।” कृष्ण—“रात कब होनी है ?” यशोदा—
“जब अन्धेरा हो जाता है ।” इस पर कृष्ण अपनी माँ के चरणों पर बैठते हैं और माता के स्तन पर से यस्त्र को बार-बार खींचते हुए कहते हैं—“माँ, देना ! रात का गद्द है और अन्धेरा हो गया है, अब दूध पिलाओ ।” इस प्रकार बाल-बोना करते हुए कृष्ण भगवान् आपसे गुन और गोभाग्य की वक्ष्यें ।

कृष्णोनाम्ब गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्यं कृष्ण किमेप आह मुसली मिथ्याम्ब पश्याननम् ।
व्यादेहीति विकासिते च वदने दृष्ट्वा समस्तं जगत्
माता यस्य जगाम विस्मयपदं पायात्स वः श्रीपतिः ॥

भावार्थः—कृष्ण और बलदेव दोनो खेलने के लिए बाहर
गये । वहाँ कृष्ण ने मनमानो मिट्टी खाई । लौटने पर बलदेव ने
माँ से चुगली खाई कि “माँ, आज खेलने के लिए गये थे,
वहाँ कृष्ण ने खूब मिट्टी खाई थी ।” इस पर माँ यशोदा ने पूछा
—“कृष्ण, देखो बलदेव क्या कह रहा है, क्या यह सच है ?”
कृष्ण—“भूठ है, मेरा मुख देख सकती हो ।” यशोदा—“अच्छा
मुँह बाओ ।” इस पर कृष्ण ने जो मुख खोला तो उसमे समस्त
जगत् को देखकर जिसकी माता आश्चर्य से चकित हो गई,
ऐसे लक्ष्मीपति कृष्ण आपकी रक्षा करें ।

रयस्ति स्वागतमर्थ्यहं वद विभो किं दीयतां मेदिनी
का मात्रा मम विक्रमत्रयपद दत्तं जलं दीयताम् ।
मा देहीत्युशनाव्रवीद्धरिरयं पात्रं किमस्मात्परं
चेत्येवं बलिनार्चितो मलमुखे पायात्स वो वामनः ॥

भावार्थ — इस श्लोक मे बलि और वामन का संवाद बहुत
सुन्दर है :—

वामन—“राजन् ! आपका बल्याण हो !”

बलि—“भगवन् ! आपका स्वागत है !”

वामन—“मैं याचक हूँ, माँगने आया हूँ ।”

बलि—“भगवन् ! कहिये क्या दूँ ?”

वामन—“पृथ्वी ।”

बलि—“कितनी ?”

वामन—“मेरे तीन पग के बराबर ।”

तब बलि के गुरु शुक्राचार्य ने वज्रिन बिया कि “मत दो, यह तो विष्णु है ।” इस पर बलि ने कहा—“यदि ऐसी बात है तो फिर, इनसे बढकर देने के लिए और कौन पात्र होगा ।” इस प्रकार बलि के वश में उसके आगे पूजे गये वामनावतार आपकी रक्षा करें ।

८

पाणिग्रहे पुत्नकितं यपुरंशं भूतिभूषितं जपति ।

अंकुरित इव मनोभूयंस्मिन् भस्मावशेषोऽपि ॥

भावार्थ — विवाह के समय जब भगवान् शिव ने पार्वती का पाणिग्रहण किया तो पार्वती के अर्श मान से उनका भस्म से विभूषित शरीर पुष्कित हो गया । इस पर बलि कहता है कि कामदेव जो शिव के लोभरे नेत्र में जनकर भस्मीभूत हो गया था, वही कामदेव भगवान् के शरीर में पुनर्जायसी के रूप में मानो फिर से अंकुरित हो गया है । ऐसा भगवान् का पुत्नकित शरीर प्राप्त करना मगल करे ।

भक्तों के हृदयोद्गार

६

क्षीरसारमपहत्य शंकया स्थीकृत यदि पलायनं त्वया ।
मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे ॥

भावार्थ — मक्खन चुराकर बालक कृष्ण विसी एवान्त ग्रन्धेरे स्थान में छिपने के लिए भागे जा रहे हैं । उन्हें सबोधन कर के एक कृष्ण का भक्त कहता है—“हे नन्दनन्दन ! मक्खन चुरा कर डर के मारे भागकर, किसी एवान्त ग्रन्धेरे स्थान में छिपना चाहते हो तो मेरे उस मन में आकर क्यों नहीं छिप जाते, जिस में मोह और अज्ञान का घोर अन्धकार भरा हुआ है ? ऐसा अन्धकारमय स्थान छिपने के लिए तुम्हें कहीं नहीं मिलेगा ।”

१०

रत्नाकरस्तव गृह गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय ।
राधागृहीतमनसः मनसोऽस्ति दैन्यं
तन्मे गृहाण पदपंकजमर्पितं ते ॥

भावार्थ — विष्णु का एक भक्त विष्णु को सबोधन करके

बहता है—“समुद्र जो रत्नों का खजाना है, वह आपका निवास स्थान है, साक्षात् लक्ष्मी आपकी धरवासी है और आप स्वयं तीनों लोकों के स्वामी हैं, भला मैं आपको क्या दे सकता हूँ ? पर हाँ, एक चीज आप के पास नहीं है, और उसे मैं आपको देने में समर्थ हूँ। मन आपके पास नहीं है, क्योंकि आपके मन का राधा ने चुरा लिया है। तो फिर आप मेरे उस मन को क्यों नहीं ले लेते ? जिसे मैंने कितनी दिनों से आपके चरण कमलों में अर्पित कर रहा है।”

११

नितरा विनयेन पृच्छते सुविचार्योत्तरमत्र यच्छ मे ।
करितो गिरितोऽप्यहं गुहस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम् ॥

भावार्थ —एक विष्णु का भक्त विष्णु को लयोधन करके बहता है—“बहुत ही विनयपूर्वक मैं एक बात आपसे पूछता हूँ। कृपया बहुत सोच विचार करके उत्तर दीजियेगा। आपने गज का उद्धार किया था और गोवर्द्धन पर्वत को हाथ पर उठा लिया था। क्या मैं गज से और गोवर्द्धन पर्वत से भी भारी हूँ कि मेरा उद्धार नहीं कर सेंगे ? मुझे उठा नहीं लेते ?”

१२

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निषीतं पयः ।
स्वयतिन सुधाप्यधायि वतिधा रभाघरः सण्डितः ।
सत्यं गृहि मदोय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृताश्लेषाक्षरयोरय मधुरिमोद्गारः वयचित्तक्षित ॥

भावाथः—कृष्ण का एक भक्त अपने प्राणों को सम्बोधन करके कहता है—हे मेरे प्राण, तुमने दाख (अमूर) भी चखा होगा, तुमने मिथी के टोरे भी खाये होंगे, तुमने औटाया हुआ दूध भी पिया होगा, चौरासी लाख योनि में तुम कभी स्वर्ग भी गये होंगे और वहाँ अमृत का स्वाद भी लिया होगा और रभा आदि अप्सराओं के अधरामृत का पान भी किया होगा । पर सच-सच बताओ इस ससार में बार-बार जन्म ले कर भ्रमण करते हुए तुमने “कृष्ण” इन दो अक्षरों में जो मिठास है, ऐसी मिठास कहीं पायी है ? पण्डितराज जगन्नाथ के इस श्लोक का हिन्दी पद्यानुवाद एक कवि ने इस प्रकार किया है—

चाखो मिश्री को भर, पान कियो स्वच्छ दूध,
 त्योही परिपूरन सुदाख हूँ को खायो तू ।
 जाय सुरलोक मध्य अमृत पियो है पुनि,
 कैयो बार रभा को अधर खडि आयो तू ।
 अब हूँ तो साची बात कहूँरे हमारो जोब,
 विप्रचन्द जग बीच बार बार आयो तू ।
 कृष्ण या युगल वर्ण माधुरी प्रवाह सम
 भदभुत माधुरी कबहूँ कहूँ पायो तू ॥

२

१३

क्षालयामि तव पादपंकजं नाथ दारुदृषदोः किमन्तरं ।
 मानुषीकरणक्षरणमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥
 पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा पश्चात्परं तोरमहं नयामि ।
 नो चेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः ॥

भावार्थ — नौका के द्वारा गंगा पार करने के लिए आये हुए भगवान् रामचन्द्र से मल्लाह कहता है—‘हे भगवन्, मैं पहले आपके चरणकमल को धोना चाहता हूँ। ऐसा कहा जाता है कि आपके चरणों की धूलि में ऐसी शक्ति है कि वह पत्थर को स्त्री बना देती है। आपने एक पत्थर को ही तो ग्रहिल्या बना दिया था। मेरी नौका पत्थर की तो नहीं, परन्तु काठ की है। पर पत्थर और काठ में भेद ही कितना है ? इसलिये मैं पहले आपके पैर धोऊँगा, तब उसके बाद ही आपको पार ले जाऊँगा। नहीं तो कहीं आपके चरणों की धूलि से मेरी नौका स्त्री हो गई, तो क्या मैं अपने कुटुम्ब का पालन कैसे करूँगा ? तुलसीदास की नीचे लिखी कविता इसी भाव की है—

पात भरी सहरी, सबल सुत वारे-वारे,
 केवट की जाति, बछु वेद न बढ़ाइहो ।
 सब परिवार मेरो माहि लागि, राजा जू,
 हौं दीन वितहीन, कैसे दूसरी गढ़ाइहो ॥

गौतम की घरनि ज्यों तरनी तरंगी मेरी,
 प्रभु सा निपादु हूँ मैं बादु न बढ़ाइहो ।
 तुलसी के ईस राम रावरे सो साची वहाँ,
 बिना पग धोए नाथ, नाथ ना बढ़ाइहो ॥

१४

कालिन्दीपुत्तिनोदरेषु मुसली यावद्गत तेलितु-
 तावत् स्वादु पयः पिय हरे वधिष्यते ते शिखा ।

इत्थं बालतया प्रतारणपराः श्रुत्वा यशोदागिरः
 पायाद् वः स्वशिखां स्पृशन् प्रमुदितः क्षीरेऽर्धपीते हरिः ॥

भावार्थः—यशोदा दूध पीने के लिए बालक कृष्ण को फुसलाती हुई कहती हैं—हे कृष्ण ! बलदेव यमुना जी के किनारे खेलने को गया है, जबतक वह लौट कर आवे तब तक तुम इस स्वादिष्ट दूध को पी डालो, जिसमें कि तुम्हारी चोटी भी उसी के समान बड़ी हो जाय । इस प्रकार यशोदा की वाणी से फुसलाये गए कृष्ण ने अभी आधा ही दूध पीया था कि अपनी चोटी यह देखने के लिए छूने लगे कि दूध पीने के बाद मेरी चोटी कुछ बड़ी या नहीं । ऐसे प्रसन्न-वदन कृष्ण आपकी रक्षा करे ।

सूरदास के नीचे लिखे दृश्य में भी यही भाव है :—

भैया कर्वाहि बढेगो चोटी ।

किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी ॥

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों हूँ है लांघी मोटी ।

काढ़त गुहत न्हावत ओछन नागिन सी भुइ लोटी ॥

काचो दूध पिवावत पचि पचि देत न माखन रोटी ।

“सूर” स्याम चिरजिव दोउ भैया हरि हलधर की जोटी ॥

१५

अपि मुरलि मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्द-

श्वसनमधुरसज्जे त्वां प्रणम्याद्य याचे ।

अधरमणिसमीपं प्राप्तवत्यां भवत्यां

कथय रहसि कर्णं मदृशां नन्दसूनोः ॥

भाषार्थः—एक कृष्ण का भक्त कृष्ण की मुरली को सवोधन करके बहता है—“ऐ मुरली, तुम भगवान् कृष्ण के मुख-कमल की श्वास से बजाई जा कर अति मधुर स्वर निकालती हो । मैं आज तुमसे अति विनय पूर्वक यह भिक्षा मागता हूँ कि कृष्ण के भण्ड के समान लाल श्रोत्र के समीप जब तुम पहुँचो तो मेरी कँमी शोचनीय दशा हो रही है यह एकान्त में उनके बानों में जरा डाल देना ।”

१६

• क्षुधितस्य नहि तृपास्ति मे प्रतिरथ्यं प्रतिगृह्यत. करणान्
अकलंक यशस्करं न ते भवदीयोऽपि यदन्यमुच्छति ॥

भाषार्थः—एक भगवान् का भक्त भगवान् को उलाहना देता हुआ बहता है—“हे भगवान्, मैं भूखा हूँ । यदि कोई भूखा मनुष्य अपनी क्षुधा दान्त करने के लिए गली-गली, दर-दर, एक एक दाना मागता फिरे तो उसमें लज्जा की बात नहीं है । पर आप तो निनात निष्कलण और सबसे बड़े दानी हैं । क्या आपके लिये यह यश की बात है कि मैं आपके होकर भी किसी दूगरे के दर पर मागने के लिये जाऊँ ?”

१७

मदन परिहर स्थितिं मदीये मनसि मुमुन्दपदारविन्दधास्ति
हरनयनकृशानुना कृशोऽसि स्मरसि न चक्रपराक्रमं मुरारेः ॥

भाषार्थः—कोई बानी पुरुष विष्णु को भक्ति किया

चाहता है, पर मन उसका विष्णु के चरणों में रमता नहीं, तब वह कामदेव को संबोधन करके कहता है :—कामदेव, तुम मेरे मन से दूर हो जाओ, उसमें अब विष्णु भगवान् के चरणों का वास होने लगा है । तुम तो पहले से ही शिव के तीसरे नेत्र की अग्नि से दग्ध होकर जर्जर हो रहे हो, क्या तुम्हें विष्णु भगवान् के चक्र की शक्ति का स्मरण नहीं है ?

१८

पापः खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातुं
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य ।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः ॥

भाषार्थः—एक भगवान् का भक्त कहता है—हे भगवन्, मैं पापी हूँ, दुष्ट हूँ, यह समझकर ही क्या आप मुझे त्याग रहे हैं । किन्तु जो निष्पाप है, जिसको कोई भय नहीं है, जो सुकृतो है, उसको आपकी रक्षा की आवश्यकता ही क्या है ? रक्षा की आवश्यकता तो मेरे जैसे पापियों और भयातों को है । यदि आप मुझ महापापी, महा अधम और महाखल की रक्षा न करेंगे तो फिर किसकी करेंगे ? मैं ही तो आपकी दया का सबसे अधिक पात्र हूँ ।

१९

हे कृष्ण मदभरणमद्य करोषि न त्वं
तेनैव संशयमुपति मनो मदीयम् ।

नाऽहं वसामि किमु केशव विश्वमध्ये
विश्वंभरेति तव नाम निरर्थकं वा ॥

भावार्थः—कृष्ण का एक भक्त कष्टों से दुःखित होकर कहता है—हे कृष्ण ! आज आप मेरा भरण-पोषण नहीं करते हैं, इस से मेरे मन में यह शका पैदा होती है कि हे केशव ! या तो मैं आपके इस ससार में नहीं रहता हूँ या आपका जो "विश्वभर" (ससार का भरण पोषण करने वाला) नाम है वह निरर्थक है। या तो मेरा भरण-पोषण करें, नहीं तो अपना 'विश्वभर' नाम छोड़ दें।

२०

पृष्ठे भवन्तमयमुद्रहते कदाचित्
एतावता यदि तवति दयास्पदत्वम् ।
स्वामिन्नहं तु हृदयेऽन्वहमुद्रहामि
स्वामित्यतः कथमहो न तवानुकम्प्यः ॥

भावार्थः—शिव का एक भक्त शिव को सघोषन करके कहता है—हे भगवन् ! यह नान्दी बेल आप को कभी-कभी अपनी पीठ पर सवार कराकर इधर-उधर से जाता है, पर इतने से ही यह आपको परम कृपा का पात्र बना हुआ है। पर स्वामिन्, मैं तो प्रतिदिन और प्रतिक्षण आपको अपनी पीठ पर नहीं, बल्कि अपने हृदय में सादे फिरता हूँ, फिर भी मुझे अपनी कृपा का पात्र क्यों नहीं बनाते ?

ईशे पदप्रणयभाजि मुहुर्त्तमात्रं
 प्राणप्रियेऽपि कुरु भानिनि मा प्रसादम् ।
 जानातु मत्प्रभुरसौ पदयोर्नताना
 मस्मादृशामिव मनोरथभंगदुःखम् ॥

भावार्थः—शिव का एक भक्त—जो अपने आराध्य देव को मनाते मनाते थक गया, परन्तु उसकी मनोकामना पूरी न हुई—
 ऊब कर और बहुत दुःखी होकर पार्वती को संबोधन करके कहता है—

“भगवती, आपसे एक विनोत प्रार्थना है । वह यह कि जब आप अपने प्राणों से भी प्यारे पति, महादेव से रुठ जाएँ तो माने नहीं, चाहे वे आपको कितना भी मनावें और आपके चरणों में अपना सिर भी रख दें । मेरी ओर देखिये, मैं उनके चरणों में नाक रगड़ते-रगड़ते कितना थक गया, पर वह पसीजे नहीं । जरा उन्हें भी तो हमारी तरह मालूम हो कि मनोरथ के भंग होने से कितना दुःख होता है ।”

दोषाकरः शिरसि तेऽस्ति गले द्विजिह्वः
 पापाणञ्जा सहचरी पशुरान्तरंगः ।
 दुःखं निवेदयति को मम दीनबन्धो
 त्वं चेत्त्रिलोचन निमीलितलोचनोऽसि ॥

भावार्थ—शिव का एक भक्त दुःखों से ऊँचकर उलाहना देता हुआ कहता है—हे दीनबन्धु ! हे शंकर ! तुम्हारे सिर पर तो दोषों का खजाना दोषाकर (चन्द्रमा) है, तुम्हारे गले में चुगली खाने वाला द्विजिह्व (सर्प) है, तुम्हारी सहचरी पत्थर में जन्म लेने वाली पार्वती है (अतएव जो पापाण-हृदया है), तुम्हारा अन्तरंग साथी पशु ना-दी बेल है (पशु में इतनी सहानुभूति कहाँ से हो सकती है)—ऐसी दशा में मेरा दुःख आप तक कौन पहुँचावे ! और आपने भी, तीन नेत्र वाले होकर भी, हमारी ओर आँखें बन्द कर रखी है ! फिर हमारी कौन सुने ?

इस श्लोक में 'दोषाकर' और 'द्विजिह्व' में अति उत्तम श्लेष है—'दोषाकर' का अर्थ 'दोषों का आकर' और दोषा + कर अर्थात् 'चन्द्रमा' तथा 'द्विजिह्व' का अर्थ 'चुगलखोर' और 'सर्प' दोनों हैं।

२३

वपुः प्रादुर्भावादनमितमिव जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतयान् ।
नमन् मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश क्षन्तव्य तदिदमपराधद्वयमपि ॥

भावार्थः—एक भक्त अपनी भक्ति द्वारा मुक्त हो जाने पर महादेव को सर्वोपन करने कहता है—हे महेश, इस जन्म में शरीर धारण करना पड़ा इससे मैं यह अनुमान करता हूँ कि मैंने पूर्व जन्म में आपको कभी प्रणाम नहीं किया था ! मैंने पहले जन्म में प्रणाम किया होता तो मेरा यह जन्म कदापि न होता । अब इस जन्म में मैं आपको प्रणाम करता

हूँ, जिससे मैं मुक्त हो जाऊँगा और मुझे पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ेगा । अतः अब मैं आपको भविष्य में भी प्रणाम न करूँगा । बिना शरीर के मैं आपको प्रणाम कैसे कर सकूँगा ? इसलिए हे भगवन्, मेरे इन दोनों, भूत काल के और भविष्यकाल के, अपराधों को क्षमा करें ।

२४

मौलौ गंगाशशांकौ करचरणतले कोमलांगा भुजंगाः
 वामे भागे दयार्द्रा हिमगिरितनया चन्दनं सर्वगात्रे ।
 इत्थं शीतं प्रभूतं तव कनकसभानाथ बोधुं ष्व शक्तिः
 चित्ते निर्वेदतप्ते यदि भवति न ते नित्यवासो मदीये ॥

भावार्थः—एक शिव का भक्त भगवान् को सबोधन करके कहता है—हे भगवन् ! आप अपने सिर पर परम शीतल गंगा और उससे भी अधिक शीतल चन्द्रमा को धारण किये हुए हैं । आपके हाथों और पैरों में ठंडे स्पर्श वाले सर्प लिपटे हुए हैं । आपके वाम भाग पर साक्षात् हिम के आलय (हिमालय) की कन्या तथा दया से आर्द्र पार्वती जी विराजमान हैं । आपका सारा शरीर शीतल चन्दन के लेप से लिप्त है । इतनी सारी ठंडक आप कभी सहन नहीं कर सकते थे । यदि सहन कर लेते हैं तो इसका कारण यह है कि आप सदा मेरे दुःख से सतप्त हृदय में निवास करते हैं, जिस में दुःख की आग सदा सुलगती रहती है । उसी आग से आपको गर्मी पहुँचती रहती है और इसी से आप इतनी ठंडक बर्दाश्त कर लेते हैं ।

२५

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि
 यो वा मदं वहति तस्य दमं विधासे ।
 इत्यक्षरद्वय-विपर्यय-केलि-शील
 किन्नाम कुर्वन्ति नमो न मनः करोषि ॥

भावार्थ — एक शिव का भक्त शिव से कहता है कि जो आप के समक्ष मुख से 'रव' (शब्द) करना है उसको आप उल्टा 'वर' देते हैं। जो आपके सामने 'मद' (अभिमान) करता है उसका आप 'दम' (दमन) करते हैं। इस प्रकार अक्षरों का उलट पलट करना आपके लिए स्वाभाविक खेल सा है। तब फिर क्या बात है कि मैं 'नम' (नमस्कार) करता हूँ किन्तु तुम उसकी ओर 'मन' भी नहीं देते।

२६

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचरा प्राणाः शरीरं गृहं
 पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
 संचारः पदयो. प्रदक्षिणविधि. स्तोत्राणि सर्वा गिरो
 यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम् ॥

भावार्थ — एक शिवर का भक्त भगवान् की स्तुति में कहता है—हे शिवर ! मेरा शरीर ही मन्दिर है, उसमें तुम मेरे आत्मा के रूप में निवास करते हो, उसी में तुम्हारी अर्द्धांगिनी पावती

जी मेरी बुद्धि के रूप में विराजती है, उसमें मेरे प्राण ही तुम्हारे सहचर (साथी) हैं, उसमें मेरी इन्द्रिया भिन्न-भिन्न विषयो का जो भोग करती हैं वही तुम्हारी पूजा है, उसमें मेरी निद्रा तुम्हारी समाधि है, उसमें पंरो से जो मेरा संचरण होता है वही तुम्हारी परिक्रमा है और बाणी से जो जो मैं कहता हूँ वही तुम्हारी स्तुति है। माराश यह है कि हे प्रभो ! कर्मणा, मनसा, वाचा जो जो कर्म मैं करता हूँ, उसको आप मेरी पूजा के ही रूप में स्वीकार करें।

२७

हस्तमाक्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम् ।

हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

भावार्थ — एक भक्त कृष्ण को संबोधन करके कहता है—
हे कृष्ण ! मेरा हाथ बलपूर्वक छुड़ाकर तुम चले जा रहे हो,
इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। हाँ, तुम्हारा पौरुष तो मैं तब
जानूँ, जब तुम मेरे हृदय से निकल जाओ। इसी भाव को लेकर
ही नीचे का दोहा लिखा गया है—

हाथ छुड़ाये जात हो, निबल जानिके मोहि ।

हिंदे से जो जाइहो, सबल वदोंगो तोहि ॥

२८

बालक इव परिपालितपातकनिचयः प्रयत्नतो बहुशः ।

त्वद्दर्शनेन नष्टः मन्दाकिनि डाकिनी किमसि ॥

भावायः—एक गंगा का भक्त गंगा को सम्बोधन करके कहता है—हे गंगे, मैंने बहुत दिनों से, बड़े लाडप्यार से, अपने पापों के समूह को, बालक के समान, अपनी गोद में पाल रखा था । परन्तु वह पापस्त्री बालक आपके दर्शन करते ही नष्ट हो गया । सो हे मन्दाकिनि, बोलो, तुम बच्चों को खा जाने वाली डाकिनी हो क्या ?

२६

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिनंदाणां
 येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा ।
 येषां श्रीकृष्णलीलालितगुणरसे सादरी नैव कर्णो
 धिक्त्वान्धिक्त्वान्धिगेतान्कथयति सततं पीतनस्थो मृदंगः ॥

भावायः—जिन लोगो को यशोदासुत भगवान् कृष्ण के चरण कमल में भक्ति नहीं है, जिनकी जिह्वा आभीर-कन्याओं (गोपियों) के प्यारे कृष्ण के गुणों के वर्णन करने में अनुरक्त नहीं है, जिनके पान श्री कृष्ण की ललित लीला के गुणों को सादर सुनने में अभिरुचि नहीं रखते, "उनको धिक्कार है ।" "धिक्कार है उनको" ऐसा पीतन के समय बजता हुआ मृदंग "धिक् धिक् तान्" धिक् धिक् तान्" इस बोल के द्वारा याद-दार कह रहा है ।

लक्ष्मी और सरस्वती का विवाद

३०

विद्वांसः कृतबुद्धयः सखि मम द्वारि स्थिता नित्यशः
श्रीमन्तोऽपि मया विना पशुसमास्तस्मादहं श्रेयसी ।
श्रीवाग्देवतयोरमूनि वचनान्याकर्ण्य वेधाश्चिरा-
दूचे श्रेयसरे उभे यदि भवेदेको विवेको गुणः ॥

भावार्थ :—लक्ष्मी और सरस्वती का विवाद इस श्लोक में प्रच्छा दिया गया है । लक्ष्मी कहती है—“सखी, बड़े-बड़े विद्वान् और बड़े-बड़े बुद्धिमान् नित्य मेरे (धनियो के) दरवाजे पर हाथ फँलाये खड़े रहते हैं ।” इस पर सरस्वती उत्तर देती है—“हा ठीक है, किन्तु धनी मनुष्य भी मेरे (सरस्वती के) विना निरे पशु के समान है, इस लिये मैं तुम से बड़ी हूँ ।” लक्ष्मी और सरस्वती के इस विवाद को सुनकर ब्रह्मा जी, बहुत देर तक सोचने के बाद बोले—तुम दोनों ही अच्छी हो, यदि दोनों में एक विवेक गुण भी हो । विना विवेक के दोनों में से कोई भी प्रशंसा के योग्य नहीं है ।”

३१

पीतोऽगस्त्येन तातश्चरणतलहतो वल्लभोऽन्येन रोषा-
दाबाल्याद्विप्रवयः स्ववदनविवरे घायंते वैरिणी मे ।

गेहं मे ह्येदयन्ति प्रतिदिवसमुमाकान्तपूजानिमित्त
तस्मात्खिन्ना सदाऽहं द्विजकुलसदनं नाथ नित्यं त्यजामि ॥

भावार्थ :—विष्णु ने लक्ष्मी से पूछा कि तुम ब्राह्मणों से क्यों घृणा करती हो ? उनके पाम क्यों नहीं जाती ? इस पर लक्ष्मी उत्तर देती है—“हे नाथ ! भगस्त्य नाम का एक ब्राह्मण हुआ है जिसने मेरे पिता समुद्र को ही उठाकर पी लिया था । एक दूसरा ब्राह्मण भृगु नाम का हुआ है, जिसने मेरे प्राण-पति विष्णु भगवान् को ही लात मार दी थी । बहुत छोटी उम्र से ही ब्राह्मण लोग मेरी वैरिणी सरस्वती की उपासना करते हैं और सर्वदा उसे अपने मुख में धारण किए रहते हैं । बमल में मेरा निवास रहता है, उसी को वे लोग प्रतिदिन उमाकान्त (शिव) की पूजा के निमित्त तोड़ा करते हैं । इन्हीं सब बातों से खिन्न होकर मैं ब्राह्मणों के यहाँ रहने का नाम भी नहीं लेती । उन को दूर से ही नमस्कार करती हूँ ।”

३२

पद्मे भूदजने ददासि द्रविणं विद्वत्सु किं मत्सरो
नाहं मत्सरिणी न चापि चपला नैवास्मि मूर्खरता ।
मूर्खेभ्यो द्रविणं ददामि नितरां तत्कारणं ध्रुवता
विद्वान्सर्वजनेषु पूजिततनुर्मूर्खस्य नान्या गति ॥

भावार्थ :—लक्ष्मी विद्वानों के पाम क्यों नहीं जाती—इस पर विनी विनी शक्ति की अनोखी सूझ है—“हे लक्ष्मी, तुम मूर्खों

को धन देती हो, पर विद्वानो से तुम्हारा इतना द्वेष क्यों है ?” इस पर लक्ष्मी उत्तर देती हैं—“न तो मैं किसी से द्वेष करती हूँ, न मैं चवला हूँ जैसा कि लोग मुझे समझते हैं और न मूर्खों से मेरा कोई प्रेम है। मूर्खों को जो मैं प्रचुर धन दिया करती हूँ उसका कारण सुनो—विद्वान् पुरुष तो सब जगह पूजा जाता है, उसकी प्रतिष्ठा सब जगह होती है, पर मूर्खों की तो सिवा मेरे और कोई गति ही नहीं है। इसी से मैं उन्हें धन दिया करती हूँ। यदि मैं भी उन्हें छोड़ दूँ, तो उनका ठिकाना और कहाँ लगे ?”

३३

लक्ष्मि क्षमस्व वचनीयमिदं दुरुक्त-
मन्धीभवन्ति पुरुषास्त्वदुपासनेन ।
नो चेत्कथं कमलपत्रविशालनेत्रो
नारायणः स्वपिति पन्नगभोगतल्पे ॥

भावार्थ —लक्ष्मी पाने से लोग मद से झन्धे हो जाते हैं, इस बात को कैसे अच्छे ढंग से इस श्लोक में कहा गया है—“हे लक्ष्मी, तुम्हारी भक्ति और पूजा करने वाले पुरुष झन्धे हो जाते हैं—ऐसा कहने से यद्यपि तुम्हारी निन्दा तो होती है, पर है यह बात सच, इससे कहना पड़ता है। यदि तुम्हारी उपासना करने से पुरुष झन्धे न हो जाते तो बताओ तुम्हारे साथ रहने से कमल-पत्र के समान बड़े-बड़े नेत्र वाले विष्णु भगवान्, देखते हुए भी, क्यों दोष नाग के शरीर पर दायन करते ? तुम्हारे सग मात्र से विष्णु भगवान् बड़ी-बड़ी घ्रांस खाते होकर भी झन्धे हैं, तभी

तो शेषनाग के शरीर पर सोते हैं। सोने के लिए उन्हें थोर कोई ठौर न मिला !

३४

हालाहलो नैव विषं विषं रमा
जनाः परं व्ययत्यमत्र मन्वते ।
निपीय जागर्त्ति सुखेन तं शिवः
स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः ॥

भाषार्थः—लोगों का यह भ्रमाल चलत है कि हालाहल विष है। मैं तो यह समझता हूँ कि हालाहल विष नहीं, विष तो वास्तव में लक्ष्मी है। क्योंकि हालाहल पीकर देखो शिव तो सदा जागते रहते हैं, परन्तु लक्ष्मी के स्पर्शमात्र से मुग्ध होकर विष्णु भगवान् क्षीर सागर में, घोर निद्रा में पड़े सोते रहते हैं।

३५

पट्टवन्ति चपलेत्यपवादं नैव वृषणमिदं कमलायाः ।
वृषणं जलनिधेहि भवेत्तद्यत्पुराणपुरयाय ददौ ताम् ॥

भाषार्थः—सोच सकते हैं कि लक्ष्मी चपलता है, एक जगह स्थिर हो कर नहीं रहती; आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास। लेकिन इसमें लक्ष्मी का क्या दोष ? दोष तो लक्ष्मी के पिता समुद्र का है, जिसने उसे पुराण पुराय (बृहद मनुष्य चर्यान् विष्णु) से स्नाह दिया। इसी माय का रहीम का यह दोहा भी है.—

कमला यह न रहीम थिर साँच कहत सब लोय ।
परुष पुरातन की बधू कयो न चचला होय ॥

३६

रत्नाकरस्तव पिता कमले निवासो
भ्राता सुधामयतनुः पतिरादिदेवः ।
केनापरेण कमले बत शिक्षितानि
सारंगशृंगकुटिलानि विचेष्टितानि ॥

भावार्थः—हे लक्ष्मी, महान् रत्नो का खजाना समुद्र तो तुम्हारा पिता है, कमल-जैसे स्वच्छ और सुन्दर स्थान में तुम्हारा निवास है, अमृत का भाण्डार चन्द्रमा तुम्हारा भाई है, साक्षात् आदिदेव भगवन् विष्णु तुम्हारे पति है । ऐसे सरल और श्रेष्ठ कुल की होकर भी तुमने हिरन की सींग की तरह कुटिल व्यवहार किस से सीखा है, बताओ तो ?

३७

स्वार्थं धनानि धनिकात्प्रतिगृह्णतो यद्
आस्यं भजेन्मलिनतां किमिदं विचित्रम् ।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम् ॥

भावार्थः—वनियो के सामने हाथ फैलाने से प्रतिष्ठा की कितनी हानि होती है, इस पर एक कवि कहता है—“किसी धनी

से अपने स्वार्थ के लिए धन लेते हुए मनुष्य का चेहरा मैला (फीका) हो जाय, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। देखो, भेड़ तो अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए, समुद्र से धन नहीं, केवल जल ही लेता है, परन्तु इतने ही से वह पूरी तरह काला हो जाता है। किसी के सामने हाथ फैलाने का यही परिणाम होता है।”

३८

लक्ष्मी यादोनिधेर्यादो नादो वादोदितं वचः ।

विभ्यती धीवरेभ्यस्सा दूरादूरं पलायते ॥

भावार्थः—लक्ष्मी जी सरस्वती के भक्तों से कयो दूर भागती है, इस पर कवि की अच्छी कल्पना है। इस श्लोक में “धीवर” शब्द में उत्तम इल्लेप है। “धीवर” शब्द का एक अर्थ है ‘विद्वान्’ और दूसरा अर्थ है “मल्लाह”। कवि कहता है कि लक्ष्मी यादोनिधि (समुद्र) की “याद” (जलजन्तु) है—यह कहना अनुचित बात नहीं है। वह समुद्र की जन्तु है इसी से तो वह “धीवर” (विद्वान् या मल्लाह) से दूर-दूर भागती है कि कहीं मुझे पकड़ न ले।

३९

निद्राति स्नाति भुङ्क्ते चलति कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते
दोष्यत्यक्षेनं चायं गदितुमवसरो भूय आयाहि याहि ।

इत्युद्दण्डैः प्रभूणामसकृदधिकृतैर्वारितान् द्वारि दीना-
नस्मान् पश्याद्विधकन्ये सरसिरुहुरुचामान्तरंगैरपांगैः ॥

भावार्थः—किसी धनी के द्वार से दुर-दुराया गया कोई निष्किंचन, सरस्वती का भक्त लक्ष्मी से कहता है—“सरकार अभी सो रहे हैं, अभी स्नान कर रहे हैं, अभी भोजन पर बैठे हैं, अभी टहल रहे हैं, अभी बालो को सुखा रहे हैं, अभी जनानखाने में तशरीफ रखते हैं, अभी चौसर खेल रहे हैं, इस समय उनसे कुछ कहने का अवसर नहीं है, फिर आना, अभी जाओ” इस तरह से धन के मद में मतवाले अमीरो की ढ्योड़ी पर नियुक्त उद्दण्ड अधिकारी पुरुषों से बार-बार रोके गए मुझ को हे लक्ष्मी, अपने कमल को भी मात करने वाले नेत्र के कटाक्ष से एक बार देख लो, तो मैं निहाल हो जाऊँ ।”

४०

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीशमहे यावदित्यं
शूरस्त्वं वादिदपञ्जरशमनविधायक्षयं पाद्वं नः ।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
भय्यप्यास्था न चेत्त्वयि मम सुतरामेष राजन्गतोऽस्मि ॥

भावार्थ —कोई सरस्वती का भक्त विद्वान् किसी राजा के पास गया, किन्तु अपने प्रति उसकी उपेक्षा देख कर वह कहता है—“हे राजन ! तुम धन के स्वामी हो तो मैं वाणी का मालिक हूँ ; तुम शूरवीर हो तो मैं भी दास्यार्थ में प्रतिवादियों के

घमण्ड को चूर करने की अनुपम योग्यता रखता ॥ ; बड़े-बड़े धनी तुम्हारी सेवा में लगे रहते हैं और तुम्हारा मुँह जोहते रहते हैं तो न जाने कितने लोग अपनी बुद्धि का मल दूर करने के लिए मुझे सुनने और मेरी सेवा करने के लिए आतुर रहते हैं। ऐसी दशा में यदि मेरे प्रति तुम्हारी श्रद्धा नहीं है, तो मुझे भी आपके प्रति कोई आस्था नहीं है। अतएव मुझे यहाँ रहने की कोई आवश्यकता नहीं है, मैं विदा लेता हूँ।

४१

क्षारतादिभिरसेव्यतरोऽपि प्राहभीषणतया फुटिलोऽपि ।
वारिधिर्वत रमाव इतीव सेव्यते भगवता हरिराऽसौ ॥

भाषार्थः—समुद्र इतना खारा है कि उसमें एक क्षण भी कोई रह नहीं सकता, न उसका एक बूद पानी भी कोई पी सकता है। अनेक भीषण मगर आवि जीव-अन्तु उसमें रहते हैं। परन्तु ऐसे भयानक समुद्र में भी भगवान् विष्णु निवास करते हैं और उसका सेवन करते हैं, क्योंकि वह साक्षात् लक्ष्मी का देने वाला है। भगवान् विष्णु भी लक्ष्मी के लोभ से ही वहाँ निवास कर रहे हैं। लक्ष्मी का लोभ बड़ा प्रबल होता है।

४२

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातास्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।

इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं

यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥

भावार्थ :—कोई सरस्वती का भक्त, विद्वान्, कवि किसी राजा या धनी के पास गया, परन्तु अपने प्रति उसकी उपेक्षा देखकर कहता है—“आपको यदि अपने धन और ऐश्वर्य का घमण्ड है तो मुझे भी इस बात का अभिमान है कि मैंने गुरु की सेवा करके विद्या और बुद्धि का सचय किया है। आप अपने धन और वैभव के लिए प्रसिद्ध हैं तो मेरा भी यश कवि लोग सारी दिशाओं में चारों ओर फैला रहे हैं। हे अभिमान में चूर लक्ष्मी के पुत्र ! इस प्रकार हम दोनों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। अतएव यदि हमसे तुम अपना मुँह मोड़ते हो, तो हमें भी आपकी परवाह नहीं है।”

ऋतु - वर्णन

४३

जगद्विजयरूपके पठति सूत्रधारे मधा—
यतिप्रमदकोकिलाकलकलच्छलान्मंगलम् ।
रुपं जवनिकां हरन् मृगदृशां मनोरंगत—
स्ततः प्रविशति स्वयं कुसुमसायको नायकः ॥

भाषार्थः—वसन्त ऋतु के वर्णन में किसी कवि ने बड़ा सुन्दर रूपक बाँधा है—जब “जगद्विजय” नाम के नाटक के प्रारम्भ में वसन्तरूपी सूत्रधार मद में मतवाली कोकिलाद्यो की कूकरूपी नान्दी का पाठ कर चुका, तब मृगनयनी कामनियो के मनरूपी रगमच (स्टेज) से मानरूपी जवनिका (पर्दे) को हटाते हुए कामदेव रूपी नायक ने प्रवेश किया । इस रूपक में कामदेव की उपमा समस्त जगत् को विजय करने वाले नायक से, वसन्त की उपमा सूत्रधार से, कोयल की कूक की उपमा नान्दी-पाठ से, कामनियो के मन की उपमा रगमच से और उनके रोप और मान की उपमा जवनिका से दी गयी है ।

४४

जगौ विवाहावसरे वनस्थलो-

वसन्तयोः कामहुताशसाक्षिरिण ।

पिकद्विजः प्रीतिमना मनोरमं

मुहुर्मुहुर्मंगलमंत्रमादरात् ॥

भावार्थ —वसन्त काल में वनस्थली कैसी हरी-भरी और शोभायमान हो जाती है तथा कोयल अपनी बूक से लोगों के मन को कैसा आकर्षित करती है—इसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है—वसन्त और वनस्थली का विवाह रचाया गया । विवाह में अग्नि को साक्षी मानकर उसके चारों ओर वर और वधू फेरे फिरते हैं । इस अवसर पर कामदेव की अग्नि ने ही साक्षी का काम दिया । विवाह में पुरोहित मनो का पाठ करता है । इस अवसर पर कोयल ने ही पुरोहित का काम किया । बार-बार कोयल की बूक ही मनो का उच्चारण है ।

४५

वसन्तप्रारम्भे चिरविरहखिन्ना सहचरी
यदि प्राणान्मुचेत्तदिह वधभागी भवति क. ।
वयो वा स्नेहो वा कुसुमविशिखो वेति विमृशन्
तुहीति प्रव्यक्तं पिकनिकरभाङ्कारमशृणोत् ॥

भावार्थ —वसन्त ऋतु में कोई वियोगी पथिक अपनी विरहिणी प्रियतमा के बारे में सोचता हुआ कहता है—वसन्त का प्रारम्भ हो गया है जब विरहिणी वालाओं के हृदय में वियोगाग्नि भड़क उठती है, ऐसे समय में चिरकाल से विरह के दुःख को भोगती हुई यदि मेरी सहचरी प्रियतमा अपने प्राणों को छोड़ दे, तो उसके वध का अपराधी कौन होगा ? क्या युवावस्था इस

अपराध की भागी होगी या प्रियतमा का उत्कट प्रेम इसका भागी होगा या कुसुम-शर कामदेव इसका भागी होगा ? जब यह इस तरह विचार कर ही रहा था तभी चारों ओर से वृक्षों पर बैठे हुई कोकिलाओं ने एक स्वर से अपनी कूक में कहा—“तू ही, तू ही” । उन सवने मिलकर मानो स्पष्ट कह दिया कि यदि उस प्रेमोन्मादिनी विरहिणी को कुछ हो गया तो दोषी “तू ही” ठहराया जायगा ।

४६

चारस्त्रीष वनस्थली नयनवां शोभां वभारान्वहं
पान्थान् पीडयति स्म तस्कर द्वय क्रूरैः शरैर्मन्मथः ।
शृंगारः सगुणः क्षमापतिरिव प्राप्तः प्रतिष्ठां परां
रात्रिः स्वीकृतेस्म मुग्धललनालज्जेय काश्यं क्रमात् ॥

भाषार्थः—यसन्त ऋतु में वेदया के समान वनस्थली ने प्रति-दिन नयी-नयी शोभा नये-नये प्रकार से धारण की । डाकू के समान कामदेव प्रियतमाओं से दूर विरही पण्डितों को अपने क्रूर बाणों से पीड़ा देने लगा । शृंगार रम ने गर्वगुण सम्पन्न होकर, दलगत सहित राजा के समान, चारों ओर प्रतिष्ठा को प्राप्त किया और रात वैसे ही धीरे-धीरे क्षीण होने लगी जैसे कि मुग्धा नायिका की सज्जा धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है ।

४७

बालेन्दुवप्राप्यविकासभावाद्
बभुः पलाशान्वतिलोहितानि ।

सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

भाषार्थः—वसन्त ऋतु में वनस्थली में फूले हुए पलाश के अधखिले लाल लाल फूल ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो दूज के चान्द के समान टेढ़े ये टेसू के फूल वास्तव में ऋतुराज वसन्त के साथ झीड़ा करती हुई वनस्थली रूपी बघूटी के अंगो पर तुरन्त लगे हुए नखक्षत हो ।

४८

सव्याधेः कृशता क्षतस्य रुधिरं दष्टस्य लालालुतिः
किञ्चिन्नैतदिहास्ति तत्कथमसौ पान्थस्तपस्वी मृतः ।
आः ज्ञातं मधुलंपटमंधुकरैरारब्धकोलाहले
तूनं साहसिकेन चूतमुकुले दृष्टिः समारोपिता ॥

भाषार्थः—वसन्त ऋतु में एक वियोगी पथिक मार्ग में एक ग्राम के पेड़ के पास मरा हुआ दिखाई पड़ा । इस पर कवि कल्पना करता है कि यदि यह किसी बीमारी से मरा होता तो कम से कम दुबला तो होता, यदि कोई घाव होता तो लहू वहा होता, यदि साँप के काटने से मरा होता तो मुँह से फेन बहा होता । परन्तु ये सब लक्षण तो इसमें कुछ भी नहीं हैं, तो फिर बेचारा पथिक मरा कैसे ? अच्छा, समझे ! मजरियो पर मण्डराते हुए मधु के लोभी भीरो की झनकार से आकृष्ट होकर, इसने साहस करके अवश्य ग्राम की मजरी पर दृष्टि डाल दी होगी और तभी

इसकी वियोगाग्नि भड़क उठी होगी और उसी से इसके प्राण-पक्षेड उड़ गए होंगे ।

४६

कोकिलश्चूतशिखरे मंजरीरेणुपिजरः ।

गदितं व्यथतामेति फुलीनश्चेष्टितं रिव ॥

भाषार्थः—वसन्त ऋतु में ग्राम के वृक्ष मजरी से इतने लदे हुए हैं कि उनकी चोटी पर बँठी हुई थोपल भी मजरी के रंग से रजित हो गई है । पता नहीं चलता कि वहाँ थोपल बँठी हुई है । उसका पता तभी लगता है जब यह कू-कू आवाज करती है । इस प्रकार यह अपनी घोसी से उभी तरह प्रगट होती है, जिग तरह कि फुलीन मनुष्य अपने आचरण और वाणी से जाना जाता है ।

५०

तप्ता मही विरहिणामिव चित्तवृत्ति-

स्तृप्णाध्वगेयु कूपणोप्यय वृद्धिमेति ।

सूर्यः करंदं हति दुर्धनः खलो नु

छाया सतीय न च मुञ्चति पादमूलम् ॥

भाषार्थ — शीघ्र ऋतु में सूर्यी बँसे हो तप रही है जंगे कि वियोगी प्रेमियों का हृदय वियोग में तप रहा है । बटाहियों में व्याम बँस हो बड़ रही है जंगे कृपा मनुष्यों में धन को कृपा दिनरर दिन बढ़ती जाती है । सूर्य धनो तीसी विरहों से

जगत् को वैसे ही पीडा दे रहा है, जैसे कि दुर्जन मनुष्य अपने वाग्वाणो से लोगो को पीडा दिया करता है। छाया वृक्ष की जड को वैसे ही नहीं छोड़ती जैसे कि सती पतिव्रता स्त्री अपने पति के चरणो को छोड़कर कही नहीं जाती।

५१

परपुरुषादिव सवितुः संप्रति भीता कराग्रसंस्पर्शात् ।
कुलवध्य इव सलज्जाः प्रविशन्ति गृहोदरं छायाः॥

भावार्थः—सूर्य की किरणों (अर्थात् सूर्य का हाथ) कहीं मुझे स्पर्श न कर लें, वस इसी डरसे ग्रीष्म में छाया घर के भीतर घुसकर बैठती है, जैसे कोई लज्जाशीला कुलकामिनी परपुरुष के कर-स्पर्श से डरती हुई घर के भीतर घुस जाती है। 'कर' में श्लेष है—'कर' का अर्थ 'हाथ' और 'किरण' दोनों है।

५२

छाया वियोगिवनितेव गता कृशत्वं
तप्तं पयः पिशुनमानसवद्वभूव ।
केनाधुना बत मनागवलोकनीयः
क्रुद्धोत्तमणंमुखमण्डलवत्पतंगः ॥

भावार्थः—ग्रीष्म ऋतु में पेड़ों की छाया वैसे ही तेजोरहित, मन्द और वृक्ष हो जाती है जैसे कि विरहिणी स्त्री अपने प्रियतम के वियोग में दुवसी हो जाती है। जल ग्रीष्म की गर्मी

से वैसे ही तप जाता है, जैसे कि दुष्टों का हृदय दूसरों को ईर्ष्या से भीतर-ही-भीतर जला करता है। लाल अगारे के समान प्रचंड सूर्य की ओर देखने का साहस उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि क्रोध में भरे हुए, कर्ज देने वाले, महाजन का मुख देखने का साहस कर्जदार को नहीं होता।

५३

मध्याह्ने चलतालवृन्तमनिलः सर्वात्मना सेवते
वारि स्वेदभिषेण शीतलवधूवक्षोजमालम्बते ।
निद्रा नेत्रमुपैति पक्ष्मयुगलच्छायाश्रिता दैहिकी
पान्थानामथ पादयोर्निपतति छायापि सा यान्तिवति ॥

भावार्थः—श्रीष्म को ऋतु में ठीक दोपहर को सभी प्राणी व्याकुल हो जाते हैं और गर्मों से बचना चाहते हैं। यहाँ तक कि हवा भी गर्मों से बचने के लिए चलते हुए पत्तों की शरण ले लेती है, जल भी पसीने के रूप में वधुओं के शीतल पयोधरों की छाया में आ जाता है। निद्रा भी नेत्रों की दोनों बरोनियों की छाया में शरण ले लेती है; और पक्षियों के शरीर की छाया भी उनके पैरों पर गिरकर, उनको आगे जाने से रोक देती है।

५४

दुःसहतादभयादिव संप्रति मध्यस्थिते दिवसनाथे ।
छायामिव चांछन्ती छायापि गता तरुस्तलानि ॥

भावार्यः—ग्रीष्म मे दोपहर को, सूर्य के ठीक मध्य आकाश में आने पर, असहनीय ताप के भय से, छाया भी छाया की इच्छा से वृक्ष के नीचे चली गयी है। दोपहर के बारह बजे छाया सिकुडती-सिकुडती ठीक वृक्ष के नीचे आ जाती है, इसी बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है। इसी भाव का बिहारी का यह दोहा भी है—

बैठि रही अति सघन वन, पंठि सदन मन माँहि ।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाही चाहत छाँहि ॥

५५

निजां कायच्छाया श्रयति महिषः कर्दमधिया
च्युतं गुंजापुजं रुधिरमिति काकः कलयति ।
समुत्सर्पन्सर्पः सुपिरविवरं तापविवशः
सचीत्काराधूतं प्रविशति करं कुंजरपतेः ॥

भावार्यः—ग्रीष्म ऋतु मे गर्मी से व्याकुल होकर भैंसा अपने शरीर की छाया को ही कीचड़ समझकर उसमे लोटना चाहता है। कौआ भी गर्मी से व्याकुल होकर लाल-लाल गुंजाफलों को रुधिर समझकर अपनी चोंच से चाटना चाहता है। सर्प भी, गर्मी से घबड़ाकर, बिल की तलाश में रेगता हुआ हाथी की मूँड में प्रवेश कर रहा है और इससे हाथी अपनी सूड को बड़े चीत्कार के साथ फड़फड़ा रहा है।

५६

छाया [संश्रयते तलं विटपिनां श्रान्तेव पान्थः समं
 भूलं याति सरोजलस्य जडता ग्लानेव मीनः सह ।
 आचामत्यहिमांशुदीधितिरपस्तप्तेव लोकैः समं
 निद्रा गर्भगृहं सह प्रविशति क्लान्तेव कान्ताजनैः ॥

भावार्थः—ग्रीष्म ऋतु मे छाया भी पथिकों के साथ-साथ थककर पेड़ों के नीचे शरण लिये हुए पड़ी है । गर्मी से व्याकुल होकर जल की निस्तब्धता भी मछलियों के साथ-साथ सरोवर के पैदे में जाकर टिक गयी है । जिस तरह लोग व्याकुल होकर शीतल जल से अपनी प्यास बुझाते हैं, उसी तरह सूर्य भी अपनी किरणों से पानी खींचकर अपनी प्यास बुझा रहा है । निद्रा भी थकी मानी होकर कुल स्त्रियों के साथ-साथ घर के भीतरी कमरे में नींद लेने के लिए प्रवेश कर रही है ।

५७

दुष्प्रेक्ष्यमुच्चैर्गगनं निदाधे

कोपाकुलस्येव मुखं नृपस्य ।

हरेः शयानस्य मृणालबुद्धया

कर्पन्ति पुच्छं करिणः करेण ॥

भावार्थः—ग्रीष्म ऋतु मे आकाश की ओर देखने से बंसा ही डर लगता है जैसे कि क्रोध से तमतमाए हुए राजा का मुख

देखने से भय लगता है। गर्मों के मारे सिंह व्याकुल होकर ऐसी घोर निद्रा में सो रहा है कि हाथी उसकी दुम को खींचता है और उसे पता भी नहीं चलता। हाथी यह समझकर उस को दुम को खींचता है कि यह कमल की नाल है। सच है ग्रीष्म ने सब को धोखे में डाल रखा है।

५८

खं वस्ते कलविककण्ठरुचिरं कादम्बिनीकम्बलं
चर्चा पारयतीव दर्दुरकुलं कोलाहलैरुन्मदम् ।
गन्धं मुंचति सिक्तलाजसदृशं वर्षेण दग्धा स्थली
दुर्लक्ष्योऽपि विभाव्यते कमिलनीहासेन भासां निधिः ॥

भावार्थः—वर्षाकाल में कलविक (गौरैया) के कण्ठ के समान काले मेघ आकाश में छाये हुए ऐसे लगते हैं मानो आकाश रूपी फर्श पर काला गलीचा बिछा हो। मेढक लोग टर-टर लगाए हुए ऐसे लगते हैं मानो वेद-पाठी छात्र वेद-पाठ कर रहे हो। ग्रीष्म से तप्त पृथ्वी वर्षा की बून्दों से सिक्त होकर बैसी ही सुगन्ध छोड़ रही है, जैसी सुगन्ध घान के लावा के धी में भूजने से उठती है। यद्यपि सूर्य मेघों में छिपा हुआ दिखाई नहीं पड़ता तथापि कमलों के विकास से उसके अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

५९

क्षपा क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वी कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।

वव संप्रत्युष्णाशुर्गत इति तदन्वेषणपरा-
स्तडिद्दोपालोका दिशि दिशि चरन्तीहि जलदाः ॥

भाषार्थ.—वर्षा काल की रात के वर्णन में एक कवि कहता है—श्रीष्म ऋतु में सूर्य ने बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं, विशेषकर भबलाओं पर । धपा (रात्रि) रूपी भबला को सताकर उसने कृशित और दुर्बल बना दिया है (गर्मी में रात छोटी हो जाती है); नदी रूपी स्त्रियो को उनका सर्वस्व जल बलपूर्वक अपहरण कर दीन बना दिया है, एक अन्य भबला अर्थात् पृथ्वी को तपाकर भुलसा दिया है, इसके अतिरिक्त जितने वन-उपवन हैं उनको सुखावर मुर्दा बना दिया है—इस प्रकार इतने बड़े-बड़े अन्याय और अत्याचार करके वह अत्याचारी सूर्य वहाँ छिपकर बैठता है, बस उसी को ढूँढ़ने के लिए, हाथ में बिजली रूपी मसाल लेकर, यैष एक दिशा से दूसरी दिशा में चक्कर लगा रहे हैं ।

६०

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
मुखं निशायामभिसारिकायाः ।
धारानिपातैः सह किं नु वान्त
श्चन्द्रोऽयमित्यार्त्ततरं ररास ॥

भाषार्थ.—वर्षा काल की प्रघेरी रात में एक चन्द्रमुखी अभिसारिका नायिका छिपकर अपने पार में घर जा रही है । उससे मुखरूपी चन्द्रमा की बिजली रूपी नेत्रों में देखकर यादलों

को भ्रम होता है कि कही निरन्तर के धारापात के साथ चन्द्रमा तो आकाश से पृथ्वी पर नहीं गिर पड़ा, हाय, बड़ा गजब हो गया। इसी सोच में भरकर वे अकस्मात् बड़ी जोर से चिल्ला उठे। यह बादलों का गरजना ही उनका चौक कर चिल्लाना है।

६१

आकाशे पश्य नेमा निविड्धनघटाः संभृताग्नेयचूर्णा
मंजूषा भान्ति तासामुपरि सुरधनुःकैतवात्केतवोऽमी ।
विद्युन्नो नालयंत्रश्रुतिमुखनिपतद्दीप्तवर्त्तिप्रकाशः
सैन्यं मारस्य मन्ये स्फुरति धिमयितुं मानिनीमानदुर्गम् ॥

भावार्थः—वर्षा काल में देखो आकाश में बादलों को यह घनघोर घटा नहीं है बल्कि बारूद से भरी हुई पेटी है ; उसके ऊपर जो यह इन्द्रधनुष प्रगट हो रहा है वह इन्द्रधनुष नहीं है बल्कि सेना की पताका है ; उसमें जो यह बिजली की छटा चमक रही है वह बिजली नहीं है बल्कि तोप की नली में रखे हुए पत्तीते में आग लगने से निकला हुआ प्रकाश है। इस प्रकार सेना के सब साधनों से सुसज्जित होकर कामदेवरूपी सेनापति मानिनी स्त्रियों के मानरूपी गढ़ को चूर करने के लिए निकल पड़ा है।

६२

चन्द्रबिम्बरविबिम्बतारकामण्डलानि घनमेघडम्बरैः ।
भक्षितानि जलदोदरेषु तद्रोदनध्वनिरिवैष गर्जितम् ॥

भावार्थः—वर्षाकाल में घनघोर मेघों के समूह ने चन्द्रमा को,

सूर्य को और तारे को समूचा निगल लिया है, तभी तो दिन को सूर्य और रात को चन्द्रमा और तारे दिखाई नहीं पड़ते। वही निगले हुए सूर्य, चन्द्रमा और तारे मेघों के उदर में पड़े हुए कुड़मुड़ाकर रो रहे हैं। मेघ जो गर्जते हैं, वही उनके रोने की आवाज है।

६३

चलद्वलाकादशनाभिरामः परिलवद्वारिमदाम्बुधारः ।
 ग्राह्यमानस्तडिदंकुशेन स्मरस्य बध्वान घनद्विपेन्द्रः ॥

भावार्थ.—कामदेवरूपी राजा हाथी पर चढ़कर मसार को विजय करने के लिए निकला है। काला मेघ ही उसका हाथी है, चलते हुए मारसोकी पवित्र ही उस हाथी के दात हैं, आकाश से गिरता हुआ वर्षा का जल ही हाथी के शरीर से बूते हुए मद की धारा है, बिजली की चमक ही उस हाथी के ऊपर लगा हुआ अकुश है जिसके घुबने से वह बिघाड़ उठता है और बादल का गरजना ही उस हाथी की बिघाड़ है।

६४

वृद्धाग्नेव विजहो सरिद्रुद्धतस्त्व
 वेदान्तिनामिव मतं शुचि नोरमासीत् ।
 चन्द्रप्रभा युवतिवत्रमिवाद्भूताभूत्
 ग्राह्यमानस्तमिव केकिरुतं न रेजे ॥

भावार्थः—शरत् काल में नदियों का जोम बँसे ही टूट गया

जैसे कि बुढ़ापे में स्त्रियों का जोम टूट जाता है ; जल वैसा ही साफ हो गया जैसा कि वेदान्तियों का सिद्धान्त स्वच्छ और विमल होता है , चन्द्रमा का प्रकाश मेघों के लोप हो जाने से, वैसा ही निर्मल और शोभायुक्त हो गया जैसा कि सुन्दर युवतियों का मुखारविन्द शोभायुक्त होना है और मोरों का किकियाना वैसा ही कर्णकटु लगता है जैसा कि विद्वान् ब्राह्मणों की दीन वाणी कानों को अप्रिय लगती है ।

६५

अथ प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा

समाययावुत्पलपत्रलोचना ।

सपंकजा श्रीरिव गां निपेवितुं

सहंसबालव्यजना शरद्वधूः ॥

भावार्थः—रमणीय चन्द्रमा ही जिसका मुख है , आकाश ही जिसकी साठी है , नीले कमल हो जिसके लोचन है , कमल की शोभा ही जिसकी शोभा है ; हंस ही जिसका चवर है, ऐसी शोभायमान शरद्व रूपी वधू, माक्षात् लक्ष्मी के समान, पृथ्वी का सुख भोगने के लिए आकाश से नीचे उतर आयी है ।

६६

तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः

शृंगं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः ।

तोयं प्रसीदति मुनेरिव चित्तवृत्तिः
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पंकः ॥

भावार्थ — शरद् ऋतु मे सूर्य वैसा ही तप रहा है जैसा कि हाल ही मे धन पा जाने से, मद से बीराया हुआ नीच पुरुष तपने लगता है, किसी को माल नहीं गिनता । हिरन अपने सींगों को वैसे ही त्याग रहे है जैसे कि वृद्धनी मनुष्य रामय पढ़ने पर अपने सनिफ्ट मित्र को भी त्याग देते है । जल वैसे ही स्वच्छ हो गया है जैसा कि मुनियों का मन स्वच्छ रहता है । वर्षाकाल मे वर्षा के कारण उत्पन्न कीचड़ वैसे ही धीरे-धीरे सूख रहा है जैसे कि कामी दरिद्र की इच्छाएँ, साधन न होने से, आप ही लोप हो जाती है ।

६७

हिमधवलदन्तकेशी मन्दद्युतितारका बृहत्तिमिरा ।
द्विगुणीभूता रजनी वृद्धेव शनैः शनैर्याति ॥

भावार्थ — हेमन्त ऋतु मे रात दुगनी बड़ी हो जाती है, अतएव उसकी उपमा एक वृद्धा स्त्री से दी गयी है । हिम (वर्फ) ही उसके सकेद दात और वेश है । आकाश के तारे ही उसकी आँखों की पुतलियाँ हैं । जिस प्रकार वृद्धावस्था मे आँखों की ज्योति मन्द पड़ जाती है, उसी प्रकार हेमन्त की रात मे तारों की ज्योति भी धीमी पड़ जाती है । जिस प्रकार वृद्धावस्था मे आँखों का तिमिर बढ़ जाता है, उसी प्रकार हेमन्त की रात का प्रध-कार भी बढ़ जाता है । जिस प्रकार वृद्धा स्त्री लाठी के सहारे

धीरे-धीरे चलती है उसी प्रकार हेमन्ती की रात भी धीरे-धीरे हो जाती है । रात पहाड़ जैसी लगती है, काटे नहीं बटती ।

६८

लज्जा प्रौढमृगीदृशामिव, नवस्त्रीणां रतेच्छा इव
स्यंरिण्या नियमा इव, स्मितरुचः कुल्यांगनानामिव ।
वम्पत्योः कलहा इव, प्रणयिता वारांगनानामिव
प्रादुर्भूय तिरोभवन्ति, सहसा हेमन्तिका वासराः ॥

भाषार्थः—हेमन्त ऋतु में प्रौढा स्त्रियो की लज्जा के समान, नवयुवतियो की सुरतेच्छा के समान, यथेच्छाचारिणी स्त्रियों के शील और नियम के समान, कुलीन स्त्रियो की मुस्कान के समान, पति और पत्नी के परस्पर प्रेम-कलह के समान तथा वेदयाधो की प्रीति के समान, दिन आते हैं और फिर शीघ्र ही विलीन भी हो जाते हैं । हेमन्त ऋतु में दिन छोटे हो जाते हैं इसके वर्णन में कैसी सुन्दर और घरेलू उपमाएँ कवि ने दी हैं ।

६९

दुराशेव दरिद्रस्य तृष्णोव कृपणस्य च ।
अहो न विरमत्येषा हन्त हेमन्तयामिनी ॥

भाषार्थः—हेमन्त ऋतु की निगोड़ी रात दिन पर दिन वैसे ही बढ़ती जाती है जैसे कि दरिद्र मनुष्य की दुराशा और कृपण मनुष्य की तृष्णा दिन पर दिन बढ़ती जाती है । सभी उमका अन्त होने को नहीं आता ।

७०

शीतार्त्ता इव संकुचन्ति दिवसाः नैवाम्बरं शर्वरी
 शीघ्रं संचति, पश्य देव । हृतभुक्कोणंगतो भास्करः ।
 त्वं चानंगहृताशभाजि हृदये सीमन्तिनीनां स्थितो
 नास्माक वसनं न वा युवतयो ब्रूहि क्व यामो वयम् ॥

भावार्थः—शिशिर काल में कोई कवि किसी राजा के पास जाकर कहता है—हे राजन् ! जाड़े में दिन भी सर्दी के मारे ठिठुर कर सिकुड़ गए हैं (अर्थात् छोटे हो गए हैं) । रात भी जाड़े के मारे अम्बर (आकाशरूपी रजाई) ओढ़े पड़ी हुई है और आकाश को शीघ्र छोड़ना नहीं चाहती, इसीलिए जाड़े में रात बड़ी हो गई है । सर्दी से ठिठुरा हुआ सूर्य भी आग तापने के लिए अग्निकोण को चला गया है । आप भी उन् रानियों के हृदयों में निवास करते हैं, जिनमें कामाग्नि सदा सुलगा करती है । और मैं अपनी क्या कहूँ, मेरे न तो कपड़ा है, न युवतिर्या है । वताइये मैं क्या कहूँ, कहाँ जाऊँ और कैसे जाड़ा काटूँ ?

७१

विभीषयति शीतलं जलमहिर्वपुष्मानिव
 प्रलोभयति कामिनीस्तन इवास्तध्मानिलः ।
 सुताप्तय इव त्विषो दिनमाणे. सुखं कुर्वते
 कुटुम्बकटुचागिव ध्यययते तुषारानिलः ॥

भावार्थ.—शिशिर काल में ठंडा जल साक्षात् सर्प की तरह काटने को दौड़ता है । जिनमें से घुंघ्रा अब नहीं उठ रहा है, ऐसे लाल-लाल जलते हुए आग के अगारे मनुष्य को अपनी ओर वंसा ही आकृष्ट करते हैं, जैसे कि कामिनी के स्तन देखने वाले को अपनी ओर आकर्षित करते हैं । सूर्य की किरणें मनुष्य को वंसा ही सुख देती हैं, जंसा कि पुत्र की प्राप्ति होने पर मनुष्य को सुख मिलता है । ठंडी तीखी हवा शरीर को वैसे ही बेधती चलती है, जैसे कि अपने कुटुम्ब वालों के कड़वे वचन हृदय को बेधनेवाले होते हैं ।

७२

शिशिरसीकरवाहिनि मारुते

चरति शीतभयादिव सत्वरः ।

मनसिजः प्रविवेश वियोगिनी-

हृदयमाहितशोकहुताशनम् ॥

भावार्थः—शिशिर ऋतु में ठंडी हवा विरहियों स्त्रियों के लिए बंसी दुग्दयिनी होती है इसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—शिशिर काल में ठंडी हवा चलने पर, शीत से बचने के लिए रामदेव भी, वियोगिनी स्त्रियों के हृदयों में, जिनमें वियोग की आग जल रही है, प्रवेश करने लगता है ।

प्रभात और सूर्योदय

७३

अभूत्प्राची पिंगा रसपतिरिव प्राश्य कनकं
क्षणात्क्षीणा तारा नृपतय इवानुद्यमभृतः ।
गतच्छायश्चन्द्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि
न राजन्ते वीपा द्रविडरहितानामिव गुणाः ॥

भावार्थ.—प्रभातकाल के वर्णन में बड़ी सुन्दर उपमाएँ इस श्लोक में दी गयी हैं—सोना पी लेने के बाद पारा जैसे तपाए हुए सोने की भाँति चमकने लगता है, उसी तरह पूर्व दिशा भी प्रभात काल में सूर्योदय की लाली से तपाए हुए सोने की भाँति चमक रही है। आलसी अनुद्यमी राजाओं की भाँति तारे भी क्षण भर में क्षीण होकर लोप हो गये हैं। जिस प्रकार गँवारों के बीच में बुद्धिमानों की थी हत हो जाती है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी प्रभातकाल में श्रीहत होकर अस्त हो रहा है। दीपक वैसे ही प्रकाशहीन होकर शोभा नहीं देते, जैसे कि घन से हीन दरिद्र मनुष्य के गुण शोभा नहीं देते।

७४

विरलविरलीभूतास्ताराः कलौ सुजना इव
व्यपसरति च ध्वान्तं चित्तात्सतामिव दुर्जनः ।

अयमुदयधरित्रीधारिभूर्धाधिहृदो
नयनपथमुपेतो भानुमत्केसरीन्द्रः ॥

भावार्थः—इस ब्रह्मलोक में सूर्य की उपमा एक सिंह से दी गयी है। प्रातःकाल सूर्यरूपी सिंह ने अन्धकाररूपी हाथी के मस्तक को अपने किरणरूपी गत्तों से विदीर्ण कर दिया है। मस्तक विदीर्ण होने से जो मोती उसमें से गिरे हैं वही ओस की बूंदों के रूप में चारों ओर बिखरे हुए दिखाई पड़ रहे हैं। वही सूर्यरूपी सिंह अपने अन्धकार रूपी शत्रु को पछाड़ने के वाद देखो, उदयाचल पर्वत की चोटी पर चढ़कर कैसे गर्व के साथ बैठा हुआ है।

७८

अयमुदयति मुद्राभंजनः पद्मनीना-
मुदयगिरियनालीवालमन्दारपुष्पम् ।
धिरहविधुरकोकट्टन्दबन्धुधिभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोड़ताम्रस्तमांसि ॥

भावार्थः—यह देखो गुस्से से भरे हुए चन्दर के गाल के समान लाल-लाल सूर्य, कमलो के समूह को प्रफुल्लित करता हुआ, रात भर एक-दूसरे से वियुक्त चकवा-चकई के जोड़ों को फिर से मिलाता हुआ तथा अन्धकार के समूह को भेदता हुआ, उदयाचल पर्वत के वनों में भिले हुए मन्दार वृक्ष के फूल के समान, उदय हो रहा है।

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोपधीना—

माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।

तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयान्यां

लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु ॥

भावार्थः—नालिदास के शकुन्तला नाटक में प्रभात के वर्णन में यह श्लोक है—एक ओर चन्द्रमा जो आकाश में चढ़ा हुआ था, अब वास के चक्कर में पड़कर अस्तावल की ओर जा रहा है । दूसरी ओर सूर्य, जो पतनावस्था को प्राप्त हो गया था, अब आकाश में फिर उदय हो रहा है । चन्द्रमा और सूर्य दोनों एक साथ अपने उत्थान और पतन में मानो लोगों को यह टाटम दे रहे हैं कि जिसका उत्थान है उगका पतन भी हो सक्ता है और जो गिरा है वह उठ भी सकता है ।

८०

उदयमुदितदीप्तिर्याति यः संगती मे

पतति न वरमिन्दुः सोऽपरामेय गत्वा

स्मितरुचिरिय सद्यः साग्यसूयं प्रनेति

स्फुरति विशदमेघा पूर्वकाष्टांगनायाः ॥

भावार्थः—प्रभात वास में चन्द्रमा पश्चिम दिशा में दृश्य जाता है और पूर्व दिशा में हसती-भी प्रभा पंनने सगती है—

मन इव मुनेः सर्वत्रापि प्रसन्नमभून्नभो
विगलति निशा क्षिप्रं लक्ष्मीरनुद्यमिनामिव ॥

भावार्थः—प्रभात के वर्णन में एक कवि ने बड़ी सुन्दर उपमाएँ दी हैं—प्रभात के समय तारे आकाश में उसी प्रकार एक-दुक्का दिखाई पड़ रहे हैं, जिस प्रकार कि कलियुग में सज्जन विरले ही दिखाई देते हैं। आकाश से ग्रन्थकार उसी प्रकार दूर हो रहा है, जिस प्रकार कि अच्छे लोगों के चित्त से दुर्जन दूर हो जाते हैं। सब ओर आकाश उसी प्रकार प्रकाश से प्रसन्न हो रहा है जिस प्रकार कि मुनियों का मन सदा प्रसन्न रहता है। रात्रि उसी प्रकार शीघ्रता के साथ लोप हो रही है, जिस प्रकार कि निरुद्यमों, आलसी लोगों की लक्ष्मी आनन-फानन लोप हो जाती है।

७५

सपदि कुमुदनीभिर्मौलितं हा क्षपापि
क्षयमपगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः ।
इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नंगमिन्दु—
बंहति कृशमशेषं भ्रष्टशोभ शुचेव ॥

भावार्थः—प्रभात होने पर चन्द्रमा की शोभा क्यों क्षीण हो जाती है ? इस पर माघ कवि की कल्पना है—चन्द्रमा की एक स्त्री कुमुदनी (कुँ) जो रात को खिली हुई थी वह सवेरे मुँद गयी। चन्द्रमा की दूसरी नायिका क्षपा (रात्रि) भी क्षय को प्राप्त हो गयी। तारिकाओं (तारों) के रूप में अनेक और स्त्रियाँ

चन्द्रमा की थी, जिनके साथ वह विहार कर रहा था, वे भी एक-एक करके उसको छोड़कर चली गयी। सबो ने उसका साथ छोड़ दिया। इसी सोच में मानो चन्द्रमा का शरीर क्षीण और दुबला हो गया है और उसकी सारी कान्ति लोप हो गयी है।

७६

कुमुदवनमपश्चि श्रीमदम्भोजषण्डं
 त्यजति मुदमुल्लूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
 उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
 हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः ॥

भावार्थ.—माघ कवि प्रभात काल के वर्णन में लिखते हैं—
 एक ओर कुमुदो के वन शोभारहित होकर अपने भाग्य को रो रहे हैं तो दूसरी ओर कमल के वन अद्भुत शोभा धारण कर हँस से रहे हैं। एक ओर उल्लू सूर्य का प्रकाश होने से भय के मारे अपनी प्रसन्नता त्याग रहे हैं तो दूसरी ओर चक्रवा चकई पुनर्मिलन की आशा से प्रसन्न हो रहे हैं। इसी तरह एक ओर उष्णाशु सूर्य उदय को प्राप्त हो रहा है तो दूसरी ओर शीताशु चन्द्रमा अस्त हो रहा है—यह कुटिल भाग्य का अनोखा खेल है।

७७

करनखरविदीर्णध्वान्तकुंभीन्द्रकुंभात्
 तुहिनकणमिषेण क्षिप्तमुक्ताप्ररोहः ।

अयमुदयधरित्रोधारिमूर्धाघिरुद्धो
नयनपथमुपेतो भानुमत्केसरीन्द्रः ॥

भावार्थः—इस श्लोक में सूर्य की उपमा एक सिंह से दी गयी है। प्रातः काल सूर्यरूपी सिंह ने अन्धकाररूपी हाथी के मस्तक को अपने किरणरूपी नखों से विदीर्ण कर दिया है। मस्तक विदीर्ण होने से जो मोती उसमें से गिरे हैं वही ओस की बूंदों के रूप में चारों ओर बिखरे हुए दिखाई पड़ रहे हैं। वही सूर्यरूपी सिंह अपने अन्धकार रूपी शत्रु को पछाड़ने के बाद देखो, उदयाचल पर्वत की चोटी पर चढ़कर कैसे गर्व के साथ बैठा हुआ है।

७८

अयमुदयति मुद्राभंजन. पद्मनीता-
मुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुविभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोड़ताम्रस्तमासि ॥

भावार्थः—यह देखो गुस्से से भरे हुए वन्दर के गाल के समान लाल-लाल सूर्य, कमलों के समूह को प्रफुल्लित करता हुआ, रात भर एक-दूसरे से वियुक्त चकवा-चकई के जोड़ों को फिर से मिलाता हुआ तथा अन्धकार के समूह को भेदता हुआ, उदयाचल पर्वत के वनों में खिले हुए मन्दार वृक्ष के फूल के समान, उदय हो रहा है।

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोपधोना—
 माचिष्कृतोऽरणपुर.सर एकतोऽर्क. ।
 तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाम्या
 लोको नियम्यत इवंप दशान्तरेषु ॥

भावार्थः—कालिदास के गकुन्तला नाटक में प्रभात के वर्णन में यह श्लोक है—एक ओर चन्द्रमा जो आकाश में चढ़ा हुआ था, अब काल के चक्कर में पड़कर अस्तावल की ओर जा रहा है । दूसरी ओर सूर्य, जो पतनावस्था को प्राप्त हो गया था, अब आकाश में फिर उदय हो रहा है । चन्द्रमा और सूर्य दोनों एक साथ अपने उत्थान और पतन से मानो लोगों को यह वादस दे रहे हैं कि जिसका उत्थान है उसका पतन भी हो सकता है और जो गिरा है वह उठ भी सकता है ।

८०

उदयमुदितदीप्तिर्पाति यः संगतौ मे
 पतति न वरमिन्दुः सोऽपरामेय गत्वा
 स्मितहृत्चिरिव सद्यः साग्यसूय प्रभेति
 स्फुरति विशदमेघा पूर्वकाष्ठांगनायाः ॥

भावार्थः—प्रभात काल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा में डूब जाता है और पूर्व दिशा में हलकी-सी प्रभा फैलने लगती है—

इस पर माघ कवि की कल्पना है—“जो चन्द्रमा मेरा साथ करने से उदयाचल में प्रकाशित होकर आकाश में निरन्तर अभ्युदय को प्राप्त हुआ था, वही चन्द्रमा अब देखो पश्चिम दिशा रूपी परनारी के यहाँ जाने से पतित होकर कौसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो रहा है”—यह सोचकर ईर्ष्या के मारे पूर्व दिशा अपनी हलकी प्रभा के रूप में मानो मुस्का रही है। प्रभात काल में पूर्व दिशा में जो हलकी-सी प्रभा छा जाती है वही उसकी मुस्कान है।

८१

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपमयूखै.

कलश इव गरीयान्दिग्भिराकृष्यमाणः ।

कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि-

र्जलनिधिजलमध्यादेश उतायन्तेऽर्कः ॥

भाषार्थः—प्रभात काल में सूर्य का गोला समुद्र के बीच से उदय हो रहा है, उसकी लम्बी-लम्बी किरणें ऊपर की ओर दसों दिशाओं में फूटकर फैल रही हैं, पक्षी चारों ओर चहचहा रहे हैं—इस पर माघ कवि की अनोखी कल्पना है। इस श्लोक में माघ कवि ने सूर्य की उपमा एक भारी घड़े से, सूर्य से फूटती हुई किरणों की उपमा लम्बी मोटी रस्तियों से, दिशाओं की उपमा पनिहारिनों से और चारों ओर चहचहाते हुए पक्षियों के कोलाहल की उपमा पनिहारिनों के कल-कल शब्द से दी है। जिस प्रकार सवेरे प्रातः काल कई पनिहारिनें एक साथ मिलकर

किसी भारी घड़े को मोटी लम्बी रस्सी से, कूप से खींचकर, निवालती हैं और उस समय उनके मुख से कल-कल शब्द निकलते हैं, उसी प्रकार प्रभातकाल में दसो दिशाएँ रूपी पनिहारिनें सूर्यरूपी घड़े को, लम्बी किरणरूपी रस्सी से, समुद्र रूपी कूप से खींचकर निवाल रही है। उसी समय चिड़ियों का जो चहचहाना है वही उन दिशारूप पनिहारिनों का कल-कल शब्द है।

८२

उत्सिक्तः कुसुमासवैः कुमुदिनीं राजप्रियां पुष्पिणी-
मालिगन्निशि निभयं परिचयं कुर्वन्पुनः पल्लवैः ।

यावत्पंकजसौरभस्वमखिलं गृह्णन्त्यु प्रस्थित-

स्तावत्कल्य उपस्थिते महद्यं विवर्गभयाद्भावति ॥

भावार्थ—रात भर वायु पुष्पों के रस को पीकर मतवाला हो गया, चन्द्रमारूपी राजा की रानी कुमुदिनी का मालिगन किया, वृक्षों के पल्लवों (आवारा लोगों) के साथ मटरगस्ती की और अब ज्योंही कमलों के सौरभरूपी धन को चुराकर भागना चाहता है कि इतने में सबेरा हो गया और कही पकड़ा न जाऊँ, इसी भय से जहाँ स्थान मिलता है वहाँ वायु भागा जा रहा है।

सूर्यास्त और चन्द्रोदय

८३

सन्ध्याशोणाम्बरजवनिका, कामिनोः प्रेम नाट्यं,
नान्दो आम्यद्भ्रमरविरुतं, मारिषः कोऽपि कालः ।
तारापुष्पांजलिमिव किरन्, सूचयन् पुष्पकेतो-
नृत्यारंभं, प्रविशति सुधादोधितिः सूत्रधारः ॥

भाषार्थः—इस श्लोक में कवि ने सन्ध्या के वर्णन में नाटक का बड़ा सुन्दर रूपक बाँधा है—

सन्ध्याकालीन लाल आकाश इस नाटक का पर्दा है, कामी पुरुष और कामिनी स्त्रियों का जो परस्पर प्रेम है वही इस नाटक का प्लॉट (कथानक) है, इधर-उधर उड़ते हुए भौरो का गुंजन ही इस नाटक का नान्दो पाठ है, कोई ऐसा सोहाबना जो संध्या काल है वही मारिष (सहायक सूत्रधार) है; और चन्द्रमा ही इस नाटक का सूत्रधार है, जो तारारूपी पुष्पों को बिखेरता हुआ और इस बात को सूचित करता हुआ कि अब कामदेव का नृत्य आरम्भ होने वाला है, आकाशरूपी स्टेज (रंगमंच) पर देखो प्रवेश कर रहा है ।

८४

व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पंकजश्रीः
गुणिन इव कुदेशे दैन्यमायान्ति भृंगाः ।

कुनृपतिरिव लोकान् पीडयत्यन्धकारो

धनमिव कृपणानां व्यर्थतां याति चक्षुः ॥

भावार्थः—सायकाल में कमलो की शोभा वैसे ही क्षीण हो जाती है जैसे कि दुर्व्यसन में पड़े हुए विद्यार्थी को विद्या क्षीण हो जाती है। कमलो के मुँद जाने से भीरे वैसे ही दीनता को प्राप्त हो रहे हैं, जैसे कि खराब देश में पहुँचकर, गुणों की बदर न होने से, गुणी मनुष्य दीन हो जाते हैं। अन्धकार लोगों को वैसे ही पीडा दे रहा है जैसे कि दुष्ट अत्याचारी राजा अपनी प्रजा को पीडा देता है। अन्धकार के कारण आँखों की ज्योति वैसे ही व्यर्थ हो रही है जैसे कि सूँघ का धन व्यर्थ हो जाता है जो न दिया जाता है, न भोगा जाता है।

८५

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।

अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥

भावार्थः—डूबते हुए सूर्य को उसकी हजार किरणें भी न बचा सकी। इस पर माघ कवि की सुन्दर उक्ति है—जब भाग्य प्रतिकूल हो जाता है तो कितने ही साधन क्यों न हो और कितने ही उपाय क्यों न किये जाय, सब विफल हो जाते हैं। सूर्य को ही देखो, जब वह गिरने लगता है—अस्त होने लगता है—तो उसके हजार किरणरूपी हाथ भी उसको सहारा देकर उठा नहीं सकते। 'कर' में उत्तम श्लेष है—कर का अर्थ 'किरण' और 'हाथ' दोनों है।

अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम् ।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥

भावार्थः—संध्या समय सूर्य पश्चिम दिशा में प्रभारहित होकर अस्त हो गया इस पर माघ कवि की अनोखी उक्ति है— जिस प्रकार वेश्या उस पुरुष को, जो कितना ही सुन्दर क्यों न हो, कितना ही प्रेम क्यों न करता हो, पर निर्धन हो जाने पर, अपने घर से निकाल देती है। उसी प्रकार पश्चिम दिशा रूपी वेश्या ने अनुराग (ललाई) रखते हुए भी, नेत्रों की सुख देते हुए भी, सुन्दर दर्शनीय शरीर वाला होते हुए भी सूर्य को— क्योंकि अब उसके पास वसु (किरणरूपी धन) नहीं रह गया था—आकाशरूपी घर से निकाल बाहर किया। 'अनुराग' और 'वसु' में अच्छा दलेप है। अनुराग का अर्थ 'प्रेम' और 'ललाई' तथा वसु का अर्थ 'किरणें' तथा 'धन' दोनों हैं।

८७

महद्भिरोर्ध्वस्तमसामभिद्रुतो

भयेऽप्यसम्मूढमतिभ्रमन् क्षितौ ।

प्रदीपवेपेण गृहे गृहे स्थितो

विलण्ड्य देहं बहुधेव भास्करः ॥

भावार्थः—यद्यपि सूर्य अन्धकार के समूह से पराजित किया और भगाया गया, तथापि वह घबड़ाया नहीं, बल्कि उसने

अपने शशु अन्धकार का सामना करने के लिए एक दूसरी तर-
कीव डूँढ निकाली अर्थात् दिन में वह केवल एक था, पर अब वह
अपने शरीर के बहुत से टुकड़े करके प्रदीप तथा लैम्प के वेश
में, घर-घर में विराजमान हो गया है ।

८८

कृत्वा प्रबुद्धकमलामखिलां त्रिलोकी-
मम्भोनिधेर्विशति गर्भमसाविदानीम् ।
अन्तःप्रसुप्तहरिनाभिसरोजबोध-
कौतूहलोव भगवानरविन्दबन्धुः ॥

भावार्थः—अरविन्दबन्धु भगवान् सूर्य समस्त लोक में कमलो
को प्रफुल्लित करके, अब सायकाल होने पर, समुद्र के गर्भ में
लीन हो रहे हैं, मानो वहाँ क्षीर सागर के अन्दर सोये हुए विष्णु
भगवान् की नाभि में जो कमल है, उसको विकसित करना
चाहते हैं । समस्त ससार के कमलो को तो विकसित कर चुके
हैं, केवल भगवान् विष्णु की नाभि से उगा हुआ कमल
प्रफुल्लित होना बच गया है, वस उसी को प्रफुल्लित करने के
लिए, अब वह समुद्र के गर्भ में प्रवेश कर रहे हैं ।

८९

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला विभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धान्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।

द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धांजनपरिमलं लांछनस्य च्छलेन ॥

भावायं:—रात्रि एक कापाली है। वह चाँदनीरूपी भस्म को रमाये हुए, तारारूपी अस्थियों को धारण किये हुए, चन्द्रमारूपी खप्पर में कलकरूपी भभूत को रखे हुए, एक द्वीप से दूसरे द्वीप में भ्रमण कर रही है। जैसे कापाली कभी-कभी अन्तर्धान हो जाती है, उसी तरह रात्रि भी दिन में छिप जाती है।

६०

कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति संपदम् ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाव चरमाचलं ततः ॥

भावार्थ:—इस ससार में व्यर्थ लोगों को सताकर कौन अधिक समय तक सपत्ति का भोग कर सकता है—इसी बात को सूचित करता हुआ, सूर्य मानो अस्त को प्राप्त हो रहा है। दिन भर सूर्य ससार को अपनी खरतर किरणों से तपाता रहता है—इसी अत्याचार का फल भोगने के लिए ही उसको दिवस के अवसान में पतन देखना पड़ता है।

६१

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति ।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान् ॥

भावार्थ—सायंकाल में प्रकाश-रहित और तेजोहीन होकर सूर्य घनवान् और भाग्यवान् मनुष्यों को यह शिक्षा देता

हुआ अस्ताव्य की ओर जा रहा है कि "जिसका एक बार उदय हुआ है उसका पतन भी अवश्य होगा, इसलिए धन का घमण्ड करना बिल्कुल व्यर्थ है।"

६२

अघाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये
कलंको नैवायं विलसति शशांकस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥

भावार्थ—शिव पार्वती से कहते हैं—“हे शैल-तनये, यह जो पूर्णमासी के चन्द्रमा में बड़ासा काला धब्बा दिखाई पड़ता है, वह कलंक नहीं है। तो फिर है क्या? वास्तव में यह निशा-रूपी नायिका है, जो रति से थककर अपने प्रियतम चन्द्रमा की, अमृत के प्रवाह से शीतल गोद में, गाढ निद्रा में सो रही है।

६३

अंकं केऽपि शशांकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे
सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भ्रमेश्च चिबं परे ।
इन्दो यदलितेन्द्रनीलशकलश्याम दरीदृश्यते
तन्मन्ये रविभीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमालक्ष्यते ॥

भावार्थ.—चन्द्रमा में जो यह काला धब्बा है उसे कोई समझते हैं कि यह कलंक है, कोई यह मानते हैं कि चन्द्रमा समुद्र से मयकर निकाला गया है, अतएव यह काला धब्बा समुद्र का

कोचड़ है, जो उसमें लगा रह गया है। कोई उसे मृग समझते हैं, इसी से चन्द्रमा 'मृगलाइन' कहा गया है। कोई उसे चन्द्रमा पर पड़ी हुई पृथ्वी की छाया मानते हैं। पर मैं तो यह समझता हूँ कि चन्द्रमा में जो यह नीलम के टुकड़े के समान काला घन्वा दिखाई देता है वह ग्रन्थकार है, जो सूर्य के डरके मारे चन्द्रमा की गोद में शरण लेकर जा छिपा है। इसी भाव को लेकर हिन्दी के स्वर्गीय कवि श्री गोपाल शरण सिंह ने यह पद्य लिखा है :—

है मयक-ग्रक मे कलक कहता है कोई ,
कोई बतलाता उसे मेदिनी की छाया है ।
कोई कहता है वह पक है पयोनिधिका ,
उसे मृग-शावक किसी ने ठहराया है ॥
मेरी जान मन में विरचि ने विचारा जब ,
कँसा कमनीय मैंने बिधु को बनाया है ।
लग जाय डीठ न किसी को यह भय मान ,
रुचिर डिठौना चन्द्रभाल में लगाया है ॥

६४

लक्ष्मीक्रीडातडागो रतिधवलगृहं वर्षणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम् ।
पिण्डोभूतं हरस्य स्मितममरसरित्पुण्डरीकं मृगांको
ज्योत्स्नापीप्लववापी जयति सितवृषस्तारकागोकुलस्य ॥

भावार्थः—इस श्लोक में चन्द्रमा के बारे में कई झूठी

पल्पनाएँ हैं—यह चन्द्रमा लक्ष्मी का क्रीडा सरोवर है, या कामदेव की स्त्री, रति का सफेद घर है, या दिशा रूपी वधूटियों के मुख देखने का दर्पण है, या रात्रिरूपी लता का सफेद फूल है, या तीनों लोकों को विजय करने वाले कामदेव सम्राट् का श्वेत छत्र है, या महादेव जी ने अट्टाहस किया है वही हास्य पिण्डीभूत होकर चन्द्रमा बन गया है, या आकाश-गंगा मन्दाकिनी में खिला हुआ सफेद कमल है, या चान्दनी रूपी अमृत का सरोवर है अथवा तारा रूपी गीलों के बीच यह सफेद बैल है ।

६५

दिग्दालाकरकन्दुकः स्मरवधूतीमन्तमुक्तामणिः

कामक्षीणिपतेविहारवलभीनिर्व्यूहपारावतः ।

हृद्व्योम्नि विकीर्णतारकमणिः श्यामावणिक् सुभ्रुवः

स्फारः स्फाटिकसंपुटः कुमुदनीकान्तोऽयमुन्मीलति ॥

भावार्थ—देखो, उदय होता हुआ कुमुदनीकान्त चन्द्रमा ऐसा लगता है मानो दिशा रूपी नायिका के हाथ में खेलने का गेन्द हो, या कामदेव की स्त्री रति के केशों में गुंथा हुआ मुक्तामणि हो, या कामदेव रूपी राजा के महल के छज्जे पर चँटा हुआ सफेद कबूतर हो, या आकाश रूपी बाजार में असह्य तारा रूपी मणियों को बिखेर कर बेचने के लिए चँटा हुआ कोई जोहरी हो, या रात्रिरूपी नायिका का शृंगार का सामान रखने के लिए स्फटिक की बनी हुई पिटारी हो ।

कपाले मार्जारः पर्य इति कराल्लेढि शशिन—
 स्तरुच्छिद्रप्रोतान् विसमिति कसे संकलयति । ।
 रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
 प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदिमहो विभ्रमयति ॥

भावार्थ —कटोरे पर पड़ती हुई चन्द्रमा की चांदनी को बिलार यह समझकर कि दूध है, जीभ से चाट रहा है। पेड़ के पत्तों से छन-छन कर आती हुई किरणों को हाथी, यह समझकर कि कमल की नाल है, सूंड से उखाड़ रहा है। रति के अन्त में पलग पर पड़ी हुई चन्द्रमा की चान्दनी को स्त्री यह समझकर कि माडी है, उसे समेटने के लिए पलग पर हाथ फेर रही है। इस प्रकार प्रभा के मद में मतवाला होकर चन्द्रमा समस्त जगत् को चक्कर में डाल रहा है।

स्वर्वाभामृतपानचारुचपकं किं कामदेवागता—
 क्रीडाकन्दुक एव किं सुरनदीडिण्डीरपिण्डः किमु ।
 किं छत्र स्मरभूपते किमु धश.पुजं पुरस्तादिदं
 चेतः संशयकारक समुदितं शीतद्युतेर्मण्डलम् ॥

भावार्थ —सामने आकाश में उदित हुआ यह चन्द्रमा चित्त में ऐसा सन्देह पैदा करता है कि यह स्वर्ग की अप्सराओं के अमृत पीने का प्याला है क्या ? कामदेव की स्त्री रति के खेलने

का गेन्द है क्या ? सुर-नदी गंगा के फेलों का समूह है क्या ?
कामदेव रूपी राजा का छत्र है क्या ? अथवा उस के यश का
समूह है क्या ?

६८

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशि-

नैताश्च ताराः नक्षत्रेभ्यः ।

नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो

नासौ कलंकः शयितो मुरारिः ॥

भावार्थः—चन्द्रमा के वर्णन में एक कवि कहता है—यह
आकाश नहीं, बल्कि क्षीर सागर है ; ये तारे नहीं, बल्कि क्षीर
सागर के फेन हैं ; यह चन्द्रमा नहीं, बल्कि गोहिरो मारे हुए
शेषनाग है ; और चन्द्रमा में यह कलक नहीं बरन विष्णु भगवान्
हैं, जो शेषनाग पर सो रहे हैं ।

६९

त्रिनयनजटावल्लीपुष्पं निशायदनस्मितम्

ग्रहकिसलयं सन्धानारीनितम्बनलक्षतिः ।

तिमिरभिदिरं व्योम्नः शृङ्गं मनोभुयकामुक्कम्

प्रतिपदि नवस्पन्दोविम्बं सुप्तोदयमस्तु नः ॥

भावार्थः—इस पदोक्त में प्रतिपदा के नवें चाँद के सम्बन्ध
में कवि ने कई मनोनीति बखानाएँ की हैं—

पड़ीवा (प्रतिपदा) का यह नया चाँद त्रिनेत्र महादेव के जटा रूपी लता का फूल है क्या ? निशा रूपी नायिका के मुख की मुस्कान है क्या ? ग्रह रूपी वृक्ष की नई कोपल है क्या ? सन्ध्या रूपी नायिका के नितम्ब पर पड़ी हुई नखक्षति है क्या ? अन्धकार को भेदने के लिए आकाश रूपी बैल का नुकीला सींग है क्या ? समार को जीतने के लिए कामदेव का बाण है क्या ? ऐसा प्रतिपदा का नवोदित चन्द्र हम सबों के लिए सुख-दायक हो !

१००

श्रीऽकारो मदनद्विजस्य गगनक्रोडं कदंष्ट्रां कुर—

स्तारामौक्तिकशुक्लितरन्ध्रतमसस्तम्बेरमस्यां कुशः ।

शृंगारार्गलकुंचिका विरहिणां मर्मच्छिवा कर्तरी

सन्ध्यावारवधूनखक्षतिरियं चान्द्री कला राजते ॥

भावार्थः—यह प्रतिपदा का वाका चन्द्रमा ऐसा शोभा देता है कि मानो कामदेव रूपी ब्राह्मण का ओकार रूपी सिद्धमन्त्र हो, जिसे उसने आकाश रूपी पट्टी पर लिख रखा है, अथवा आकाश रूपी वराह (सूअर) की बाहर निकली हुई एक डाढ़ हो, या तारा रूपी मोतियों की सीपी हो, या अन्धकार रूपी हाथों की वश में करने के लिये अकुश हो, या शृंगार रूपी कपाट के खोलने की कुजी हो, या विरहिणियों के मर्म-स्थान को कतरने के लिये कंची हो, या सन्ध्या रूपी वेद्या के शरीर पर लगा हुआ नखक्षत हो ।

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सोमन्तिनीनां हृदि
 स्यातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
 प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
 फुलत्कर्णकोषनि.सरदलिध्वेणोकृपाणां शशी ॥

भाषार्थ :—“मानवती स्त्रियो के उस हृदय मे जो कुचरूपी पहाड़ी किलो से सुरक्षित है, मान अब भी टिका रहना चाहता है, धिक्कार है उसे ।” ऐसा सोचकर सध्याकालीन चन्द्रमा क्रोध के मारे लाल हो गया और उसी समय दूर दूर तक फैले हुए अपने किरण रूपी हाथो से, फूली हुई कुई की कलियो से निक्कलती हुई भ्रमरो की पक्ति रूपी तलवार को, सहसा खींच लेता है, मानो इस अपनी तलवार से मान का काम तमाम करना चाहता है । दूर तक फैली हुई किरणें चन्द्रमा का हाथ हैं और पिली हुई कुई के फूलो से निक्कलती हुई भ्रमरो की कतार ही तलवार है । सध्याकाल मे चन्द्रमा लाल लाल उदय होना है वही उसका गुस्से से तमतमाया हुआ चेहरा है । सध्या काल के बाद चन्द्रमा के उदय होने पर, मानवती स्त्रियो का मान दूर हो जाता है, इस बात को कवि ने बड़े मुन्दर ढंग से कहा है ।

जल-विहार

१०२

नेपं ते मुखमण्डलप्रतिकृतिश्छाया न हारोद्भवा
वक्षोजौ प्रतिबिम्बितौ न सलिले जाने हि तथ्यं प्रिये ।
अप्राप्याननसौभगं तव शशी मुक्तांचितैर्दामभिः
कण्ठे हेमघटद्वयं परिदधत् पानीयमध्यं गतः ॥

भावार्थ —एक रसिक कवि अपनी प्रियतमा के साथ नदी में जलक्रीड़ा करता हुआ, उसके मुख और वक्ष स्थल की छाया जल में पड़ी हुई देखकर, कहता है —हे प्रिये ! यह जो तुम जल में छाया देख रही हो वह तुम्हारे मुख की छाया नहीं है, और यह जो हार तुम पहने हुए हो उसकी भी परछाई नहीं है, और न तुम्हारे दोनों उरोजो का प्रतिबिम्ब ही यह दिखाई पड़ रहा है । तो फिर है क्या ? वास्तव में यह चन्द्रमा है जो तुम्हारे मुख की सुन्दरता अपने में न पाकर, मोती से गुंथी हुई डोरी से दो सोने के घड़ों को अपने गले में बांधकर, लज्जा के मारे पानी में डूब मरा है । अर्थात् मुख की छाया नहीं बल्कि शशी है, हार की परछाई नहीं बल्कि मोती से गुंथी हुई रस्सी है, पीनपयोधरो का प्रतिबिम्ब नहीं बल्कि दो घड़े हैं, जिन्हें गले के दोनों ओर बांधकर चन्द्रमा पानी में लज्जा के मारे डूब मरा है । इसका हिन्दी पद्यानुवाद किसी ने इस प्रकार किया है —

नाही या प्रतिबिम्ब तो वदन की, छाया नहीं हार की ।
 तेरे द्वी कुच को न भास जल में, जानू भली भाति मैं ॥
 शोभा तो मुख की न पाय शशि है, मुक्तावली सो बधे ।
 द्वे भारो लटकाय कुभ गल में, वृडो परो नीर में ॥

१०३

अजलो जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाछितम् ।
 आत्तमात्तमपि कान्तमुक्षितु कातरा शफरशंकिनी जहौ ॥

भावार्थ — एक स्त्री और उसका प्रियतम नदी में जल-
 विहार कर रहे हैं । ज्योंही वह चंचल नेत्र वाली स्त्री अपनी
 अजली में पानी भरकर, अपने प्रियतम को भिगोना चाहती
 है कि उस पानी में अपने नेत्रों की छाया देखकर, यह शका
 करके कि छोटी मछली पानी में तो नहीं आ गयी है—उस
 पानी को गिरा देती है । वह बार-बार इसी प्रकार अजली
 में पानी लेती है और बार-बार मछली की शका से गिरा
 देती है । उसके नेत्र मोन के नेत्रों के समान चंचल हैं इस
 बात को पवि ने कंसी मुन्दर वल्पना के साथ कहा है ।

१०४

निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुश प्रतारिता कापि ।
 नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितु कुसुमलाघी ॥

भावार्थ — कोई स्त्री कमल से भरे हुए सरोवर में स्नान
 कर रही है । उसके कमल के समान नेत्रों को परधार्द जल
 में पड़ती है, जिन्हें वह बार-बार कमल समझ कर तोटना

चाहती है, पर बार बार धोखा खाती है। इस प्रकार बार-बार धोखा खायी हुई वह सचमुच के नीलकमलो को तोड़ने में भी हिचकिचाती है।

१०५

अश्विद्विजलमभि भूषणैर्वधूना-

मङ्ग्लेभ्यो गुरुभिरमज्जि लज्जयेव ।

निर्मल्यैरथ ननृतेऽवधोरिताना-

मप्युच्चैर्भवति लघीयसां हि धाष्ट्यम् ॥

भावार्थ —नदी में जल-विहार करते समय नायिकाओं के अगो से सोने के आभूषण गिर कर पानी में डूब गए, परन्तु फूलों के हार, जो वह पहने हुए थी, उनके हाथों से फँके जाने के बाद भी पानी में नाचते रहे—इस पर माघ कवि की कल्पना है कि नायिकाओं के अगो से गिरे हुए सोने के आभूषण इस लिए लज्जा के मारे पानी में डूब गए कि हम ऐसे सुन्दर अगो में स्थान पाने के बाद वहाँ से च्युत हो गए—यह हमारे जैसे गौरवशाली लोगो के लिए डूब मरने की बात है। परन्तु फूलों के हार, उन नायिकाओं के हाथों से तिरस्कृत और फँके जाने के बाद भी, जल में नाचते रहे, क्योंकि जो हलके और छोटे होते हैं, वे तिरस्कृत होने पर और भी निर्लज्ज हो जाते हैं।

१०६

वासासि न्यवसत यानि योषितस्ताः

शुभ्राभ्रद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव ।

अत्याधुः स्नपनगलज्जलानि यानि
स्यूताश्रुस्रुतिभिररोदि तैः शुचेव ॥

भावार्थ :—नायिकाओं ने जल-विहार करने के बाद गीले कपड़ों को त्याग दिया और शुभ्र चमकीले वस्त्रों को धारण किया—इस पर माघ कवि की उत्प्रेक्षा है :—उन नायिकाओं ने शुभ्र आकाश के समान जिन श्वेत चमकीले वस्त्रों को धारण किया, वे मानो प्रसन्न होकर हस-सा रहे थे कि हम को ऐसी सुन्दर नारियों ने अपने शरीर पर धारण किया है । तथा जिन गीले वस्त्रों का उन्होंने त्याग किया और जिनमें से पानी टपक रहा था, वे मानो बड़े-बड़े आसू बहाते हुए इस दुःख में कातर होकर रो रहे थे कि हमें ऐसी सुन्दरी नायिकाओं ने अपने शरीर से त्याग दिया है, हम कितने अभागे हैं ।

१०७

आरुढः पतित इति स्वसंभवोऽपि
स्वच्छदानां परिहरणीयतामुपैति ।
कर्णभ्यश्च्युतमसितोत्पलं वधूनां
वीचीभिस्तटमनु यन्निरासुरापः ॥

भावार्थ :—नायिकाएँ नदी में स्नान कर रही हैं । यहाँ जल-विहार करते समय उनके बानों से, अलवार के रूप में लगा हुआ कमल का पुष्प, पानी में गिर गया और पानी की लहरों ने उसको नदी के किनारे फेंक दिया । इस पर माघ

कवि की कल्पना है कि अपने से ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, यदि कोई ऊँचे पद पर पहुँचकर फिर गिर जाय, पतित हो जाय, तो निर्मल चरित्र वाले कलीन लोग अपने पुत्र को भी घर से निकाल देते हैं। उसी प्रकार यह सोचकर कि मेरे से उत्पन्न हुआ कमल इन सुन्दरी नायिकाओं के कानो-जैसे उच्च स्थान पर चढ़कर और वहाँ सुशोभित होने के बाद नीचे गिर गया, धिक्कार है इसको, अतएव जल ने उसको लहरों के थपेड़े मार कर किनारे पर फेंक दिया कि जा घर से निकल जा, तेरा मेरे यहाँ कोई स्थान नहीं है।

१०८

कुर्वन्निर्मुखरुचिमुज्ज्वलामजस्रं

यंस्तोयैरसिचत वल्लभा विलासी ।

तैरेव प्रतियुवतेरकारि दूरात्

कालुष्य शशधरदीधितिच्छटाच्छै ॥

भाषार्थ — एक विलासी नायक अपनी दो नायिकाओं के साथ जलविहार कर रहा है। उसने अपनी एक प्रियतमा नायिका के मुख की कान्ति को लगातार जल की छोटे मार कर और भी उज्ज्वल बना दिया। किन्तु जिस जल से उस नायिका का मुख उज्ज्वल हुआ, उसी चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ जल से, दूर स्नान करती हुई दूसरी नायिका का मुख ईर्ष्या से काला पड़ गया। मेरी अवहेलना करके मेरी सौत के साथ जल-विहार कर रहा है, इससे ईर्ष्या के मारे उसका

मुख काला पड़ गया । एक ही जल से एक का मुख स्वच्छ हो गया और दूसरी का काला हो गया यह विषमालंकार का उत्तम उदाहरण है । यह श्लोक माघ-कवि के शिशुपाल-वध में जलविहार के वर्णन में आया है ।

विरह-वेदना

१०६

अंगानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः
संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः ।
इत्याशया शशिमुखी गलदश्रुवारि-
धाराभिरुष्णमभिविचति हृत्प्रदेशम् ॥

भावार्थ — अपने प्रियतम के वियोग में कोई स्त्री आसुओं की धारा बहाकर अपने वक्ष स्थल को भिगी रही है। इस पर कवि की उत्प्रेक्षा है — “प्रियतम के वियोग की अग्नि चाहे मेरे शरीर के अंगों को भस्म करदे, किन्तु मेरे हृदय में निवास करने वाले मेरे प्रियतम का इस आग की आच भी न लगने पावे।” — वस इसी अभिप्राय से वह चन्द्रमुखी लगातार आसू बहाकर अपने वियोग-तप्त हृदय-स्थान को सींच रही है। वियोग में उसके अश्रु की धारा आँखों से बहकर लगातार छाती पर गिर रही है—इस इतनी सी बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है।

११०

पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवह. स्वं स्वं विशत्वीप्सितं
याचे त्वां द्रुहिण प्रणम्य शिरसा भूयोऽपि भूयान्मम ।

तद्वापीषु पथस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयालय-

व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि घरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

भावार्थ :—कोई विरहिणी परमेश्वर से प्रार्थना करती हुई कहती है :—मेरा शरीर पचत्व को प्राप्त हो और शरीर के पृथ्वी आदि पाँचो तत्त्व यथाक्रम अपने-अपने तत्त्व में जाकर मिल जाय—इसका मुझे कोई डर नहीं है । किन्तु परमेश्वर से हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि मेरे पाँचो तत्त्व अपने-अपने तत्त्व में इस क्रम से मिलें कि मेरे शरीर का जलतत्त्व उस सरोवर में जाकर मिल जाय जिसमें मेरा प्रियतम स्नान करता है, मेरा तेजस्तत्त्व उम दर्पण में जाकर मिल जाय जिसमें वह अपना मुख देखता है, मेरा आकाश तत्त्व उस गृह के आकाश में जाकर मिल जाय जहाँ वह रहता है, मेरा पापित्ततत्त्व उस मार्ग में जाकर मिल जाय, जहाँ वह चला करता है और मेरा वायुतत्त्व उस पक्षे में जाकर मिल जाय जिससे वह हवा लेता है । इसी भाव का यह हिन्दी दोहा भी है :—

डर न मरन विधि विनय यह, भूत मिले निजवास ।

प्रियहित वापी मुकुर मग, बोजन अँगन अवास ॥

१११

आपाता मधुवामिनी यदि पुनर्नायात एव प्रभुः

प्राणा यान्तु विभावसो यदि पुनर्जन्मग्रहं प्रार्थये ।

व्याधः कोकिलबन्धने हिमकरप्वंसे च राहुग्रहः

फण्डपे हरनेत्रदोषितिरहं प्राणेश्वरे, मन्मथः ॥

भाषार्थ :—वसन्त ऋतु के आने पर कोई विरहिणी कहती है —वसन्त ऋतु की रात आ गयी, पर मेरे स्वामी अभी तक नहीं आये। इस विरह में जीने से क्या लाभ ? अच्छा है कि मेरे प्राण अग्नि के समर्पण हो जाय और उसके बाद मेरा पुनर्जन्म हो तो भगवान् से प्रार्थना है कि अपनी कृप से मेरे विरह-सन्ताप को बढ़ाने वाली कोयल को फसाने के लिए मैं व्याधा होऊ, विरहाग्नि को उद्दीपित करने वाले चन्द्रमा को प्रसने के लिए मैं राहु होऊ, विरहिणियों को सताने वाले काम-देव को जलाने के लिए भगवान् शिव के सौसरे नेत्र की अग्नि होऊ और अपने प्रियतम को प्रसन्न करने के लिए कामदेव का अवतार होऊ।

११२

विरमत विरमत सख्यो नलिनीदलतालवृन्तपवनेन ।

हृदयगतोऽयं वह्निर्भट्टिति कदाचिज्ज्वलत्पेव ॥

भाषार्थ —कोई , कोमलांगी नायिका विरह ज्वर से पीड़ित है। उसकी सखियाँ कमलदल से उसे पखा झल रही हैं। इस पर वह उनसे कहती है :— 'सखियो, कमल दल से पखा मत झलो ! मत झलो ! अभी तो मेरे हृदय में विरह की आग धीरे-धीरे सुलग रही है, पखा झलने से कहीं वह एकदम से भटक न उठे।'

११३

कुशलं तस्या जीवति तत्कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम् ।

पुनरपि तदेव कथयसि मृता नु कथयामि या श्वसिति ॥

भावार्यः—कोई प्रेमी अपनी प्रियतमा का कुशल मगल
 — एक दूती से पूछ रहा है, जो अभी उसकी प्रियतमा का सन्देश
 लेकर आयी है। इस श्लोक में इन्हीं दोनों की बातचीत है।
 श्लोक कितना भावपूर्ण है देखिये :—प्रियतम—“उसको कुशल
 तो है ?” दूती—“हा, जीती है।” प्रियतम—“अरे, हम उसकी
 कुशल पूछते हैं ?” दूती—“कह तो दिया कि जीती है।”
 प्रियतम, “फिर-फिर उसी बात को बहे जाती हो।” दूती—“तो
 क्या कह दू कि वह मर गयी, जो अभी साँस ले रही है ?”
 आपके वियोग में वह किसी तरह जी रही है—इस इतनी सी
 बात को कवि ने कंसे व्यंग-पूर्ण शब्दों में कहा है।

११४

अस्मत्प्रयाणसमये कुरु मंगलानि
 कि रोदिषि प्रियतमे वद कारणं मे ।
 हे प्राणनाथ विरहानलतीव्रताप-
 धूमेन वारि गलितं मम सोचनान्म्याम् ॥

भावार्यः—पति के परदेश जाने के समय पत्नी रोने लगी।
 इस पर पति कहता है—“प्रियतमे ! मेरे प्रस्थान करने के
 समय तुम्हें मंगलाचार करना चाहिये, सो न कर तुम रो रही
 हो। क्या बात है, कारण तो बताओ ?” इस पर वह उत्तर
 देती है—“हे प्राणनाथ ! तुम्हारे वियोग रूपी अग्नि से उठा
 हुआ धुआँ मेरी आँखों में लगा है, उसी धुएँ से मेरी आँखों से
 आसू बहने लगे हैं, और कोई बात नहीं है।”

११५

तव विरहविधुरबाला सद्यः प्राणान् विमुक्तवती ।
दुर्लभमीदृशमंगं मत्वा न ते तामजहुः ॥

भावार्थः—एक दूती किसी विरह-विधुरा स्त्री की मरणा-सन्न दशा का वर्णन उसके प्रेमपात्र से करती हुई कहती है—
तुम्हारे विरह में व्याकुल होकर उस बाला ने तुरन्त ही अपने प्राणों को छोड़ दिया । किन्तु उन प्राणों ने यह सोचा कि ऐसे कोमल अंग रहने को कहाँ मिलेंगे, इसलिए उन्होंने उसे नहीं छोड़ा । “वह अब तक जी रहो है और विरह के दिनों को किसी तरह काट रही है” इस इतनी-सी बात को कवि ने कैसे मनोबल से कहा है ।

११६

यामोति प्रियपृष्ठायाः प्रियायाः कण्ठवत्मेनि ।
वचोजीवितयोरासोद्वहिनिःसरणो रणः ॥

भावार्थः—पति के विदा होते समय पत्नी दुःख से स्तब्ध होकर कुछ बोली नहीं, चुप रही—इस बात को कवि ने कंसी सूखी के साथ इस श्लोक में कहा है । “प्रिये ! मैं जा रहा हूँ, मुझे विदा दो,” पति के इस प्रकार विदा माँगने पर पत्नी का गला रुँध गया और बेचारी कुछ बोल न सकी । इस पर कवि को सूझ है कि उसमें चुप रहने का असली कारण यह था कि उसने प्राणों और वचनों के बीच कण्ठ-रूपी युद्धभूमि में रण लड़ लिया । यचन कहते थे कि पहले हम कण्ठ से निकले और

प्राण कहते थे कि पहले हम निकलें। बस इसी झगड़े में वह बेचारी बोल न सकी। इसी भाव का हिन्दी का यह दोहा भी है—

आज सखी हों सुनति ही, पौ फाटत पिय गोन ।
पौमे हियमे होड है, पहिले फाटत कीन ॥

११७

महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।

अनुदिनमनन्यकर्मा अंगं तनुमपि तनूकरोति ॥

भाषार्थः—एक दूती किसी बिरह-विधुरा बासा की बसा का परांत उसके प्रियतम से इस प्रकार बरती है—हे सुभग ! तुम्हारे उस हृदय में प्रवेश पाने के लिए, जिसमें सहस्रो स्त्रियाँ भरी हुई हैं, भतएव जिसमें अब बिलकुल स्थान नहीं रह गया है, वह प्रभागिनी अपने शरीर को, जो आज ही नोमल और दुबल है, दिन-प्रतिदिन और भी दुबल बना रही है कि कदाचित् प्रथ प्रवेश पा सके, आजकल उसे केवल यही काम रह गया है। तुम्हारे वियोग में कितनी दुबल हो गयी है—इस इतनी-सी बात को कवि ने कैसे सुन्दर ढंग से कहा है।

११८

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमसितः कातः किमारम्यते
मानं धत्स्व पृति यथान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नोचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥

भावार्थः—एक बहुत ही भोली-भाली, पतिप्राणा, नववयस्का, मुग्धा नायिका है, जो जानती भी नहीं कि पति से रुठना या मान करना कैसे होता है। इसका अनुचित साभ उठाकर उस का धूर्त पति मनमानी किया करता है। इस पर उसकी एक प्रौढा सखी उसे आनवान के साथ रहने की सलाह देती हुई कहती है—“ऐ भोली-भाली ! क्या अपनी सारी जवानी इसी तरह झट्झपन में बिताना चाहती है ? तनिक अभिमान किया कर और धैर्य के साथ रहना सीख। अपने प्रियतम के साथ सीधा-सादा व्यवहार करना छोड़ दे।” अपनी सखी से इस प्रकार समझाई गयी उस मुग्धा ने जवाब दिया—“अरे धीरे से बोल, मेरे हृदय में बैठे हुए मेरे प्राणनाथ कही सुन न लें।” अमरु कवि के इसी दलोक का भाव लेकर विहारो का यह दोहा भी है—

सखी सिखावत मानविधि, सैननि वरजति बाल ।

हरए कहु मो हिय बसत, सदा विहारी लाल ॥

११६

यामे सुन्दरि याहि पान्थ दयिते शोकं वृथा माऽकृथाः
शोकस्ते गमने कुतो भम ततो वाष्पं कथं मुंचसि ।
शीघ्र न व्रजसीति मा गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा
भूपानस्ये सह त्वया जिगिमिषोर्जोवस्य मे संभ्रमः ॥

भावार्यः—पति परदेश जाने को तैयार है, उस समय पति-पत्नी में जो बातचीत हुई वही इस श्लोक में है । पति—“प्रिये । मैं जा रहा हूँ ।” पत्नी—“जाइये नाथ ।” पति—“प्रियतमे । वृथा शोक मत करो ।” पत्नी—“भला तुम्हारे जाने से गुंभे शोक क्यों होने लगा ?” पति—“तो फिर आंसू क्यों बहा रही हो ?” पत्नी—“इसलिए कि तुम जल्दी क्यों नहीं चले जाते ।” पति—“प्रिये । मैं चला जाऊँ इसके लिए तुम इतनी उतावली क्यों हो रही हो ?” पत्नी—“मैं उतावली नहीं हूँ, मेरे प्राण उतावले हो रहे हैं कि तुम बाहर निकलो तो वे भी तुम्हारा साथ देने के लिए मेरे शरीर से निकलें ।” तुम्हारे चले जाने के बाद मैं जीवित नहीं रहूँगी—इस बात को भ्रमर कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है । एक उड़ूँ का घोर भी है—

पिया जो धार ने हमसे पयाम रखसत का ।

तो धम निकल गया सुनते ही नाम रखसत का ॥

१२०

याते नाथ विमुंच मानिनि रयं रोपान्मया किं कृतं
 खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सख्येऽपराधा मयि ।
 तत्किं रोदियि गद्गदेन वचसा कस्याप्रतो रयते
 नन्येतन्मम फा तयास्मि दयिता नास्मोत्पतो रयते ॥

भावार्यः—पत्नी रुटी हुई है । पति के मनाने पर जो प्रत्युत्तर दिए वही भ्रमर कवि के इस श्लोक में है । पति—“प्रिये ।” पत्नी—“बन्ना प्राणनाथ ?” पति—“हे मानिनि, कोप छोड़

दो ! पत्नी—‘मैं क्रोध करके कर ही क्या सकती हूँ ?’ पति—‘मेरे ऊपर खेद ।’ पत्नी—‘भला मैं खेद क्यों करने लगी ? क्या आपने कोई अपराध किया है ? अपराध तो सब मैंने ही किये हैं ।’ पति—‘तो फिर गद्गद् कंठसे रो क्यों रही हो?’ पत्नी—‘किसके आगे रो रही हूँ ?’ पति—‘मेरे आगे तो रो रही हो ।’ पत्नी—‘मैं आपको क्या हूँ जो आपके आगे रोऊँ ?’ पति—‘तुम मेरी प्रियतमा हो !’ पत्नी—‘प्रियतमा नहीं हूँ, इसी से तो रो रही हूँ ।’ इसी भाव का पद्माकर का एक हिन्दी पद्य भी है—

ए बलि कहो हो किन का कहत कत ,
 अरी रोस तज रोस कैं कियो मैं का अचाहे को ।
 कहै पदमाकर यहें तो दुख दूरि करौ ,
 दोष न कछु है तुम्हें नेह निरवाहे को ।
 तापें इत रोवतो कहा है कहो कौन आगे ,
 मेरेई जु आगे किये आंसुन उमाहे को ।
 का हौ मैं तिहारी तू तां मेरी प्रानप्यारी ,
 भजी होती जो पियारी तब रोती कहो काहे को ॥

१२१

मा याहोत्यपमंगलं व्रज किल स्नेहेन शून्यं वच-
 स्तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वंपाप्युदासीनता ।
 नो जीवामि विना त्वयेति वचनं संभाव्यते वा न वा
 तन्मां शिक्षय नाथ यत्समुचितं वक्तुं त्वयि प्रस्थिते ॥

भावार्थ :—पति के परदेश जाने के समय पत्नी कहती है—

“आप मत जाँय” यदि यह कहूँ तो अमंगल की बात होगी,
 “आप जाय” यह कहूँ तो यह स्नेह से शून्य बात समझी जायगी,
 “ठहरो” यदि यह कहूँ तो प्रभुता समझी जायगी, “आप जैसा
 चाहे वैसा करें” इससे रूखापन भलकता है, “आपके बिना मैं
 नहीं जी सकती” यह बात कदाचित् सभव हो या न हो, तो
 है नाथ ! मुझे बनाविद्ये कि आपके प्रस्थान करते समय मैं क्या
 कहूँ ? भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अमर कवि के इस श्लोक का
 हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया है—

रोकहि जो तो अमंगल होय,
 श्री प्रेम नसै जो कहौ ‘प्रिय जाइये’ ।
 जो कहौ ‘जाहु न’ तो प्रभुता,
 जो कहूँ न कहौ तो सनेह नसाइये ।
 जो कहौ ‘जोहौ न आप बिना’,
 तो कहौ हरिचन्द्रजू बयो पतिआइये ।
 तासो प्रयाण समय तुमरे,
 हम वा कहै आप हमे समुझाइये ॥

१२२

दूरादुत्सुकमागते विवर्तितं संभाषिणि स्फारितं
 संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चिन्नतभ्रूलतम् ।
 मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पांबुपूर्णक्षणं
 चक्षुर्जातमहो प्रपंचचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥

भावार्थ :—अमर कवि ने इस श्लोक में किसी मानिनी

नायिका के नेत्रों का अच्छा वर्णन है—मानिनी के नेत्र, जो भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रपच करने में चतुर हैं, अपराधी प्रिय-तम जब तक न आया था तब तक उत्सुकता से पूर्ण थे, जब प्रियतम आ गया तब कुछ सकोच से भर गये, प्रियतम के बोलने पर विस्तारित हो गये, प्रियतम के आलिंगन करने पर लाल हो गये, प्रियतम के द्वारा वस्त्र पकड़ने पर क्रोध से उनकी भीए कुछ टेढ़ी हो गयी और प्रियतम जब उसको मनाने के लिये उसके चरणों पर पड़ गया, तो आसू से भर गये । इस प्रकार उस मानिनी के नेत्रों ने कितनी अवस्थाएँ बदली, यह आश्चर्य है । बिहारी का एक दोहा भी कुछ इसी भाव का है—

हरि-छवि-जल जब ते परे, तब ते हृग निवरै न ।

भरत ढरत बूडत तरत, रहत धरीलौ नैन ॥

१२३

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रं रजस्रं गतं
घृत्या न क्षणमासित व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥

भावार्थ —पति ने परदेश जाने का निश्चय कर लिया है, इस समाचार मात्र के सुनते ही पत्नी की जो दशा हुई, वह इस श्लोक में वर्णित है—यह सुनते ही कि प्राणनाथ ने जाने का निश्चय कर लिया है वह इतनी दुर्बल हो गयी कि बड़े हाथों से चल पड़े, आसू आँखों से बराबर बहने लगे, धैर्य एक क्षण के लिये भी न ठहरा और चित्त तो सबके आगे जाने की

दिशायें मेरे लिये बिल्कुल शून्य न हो जायगी।” पति—“घब-
 डाने की कोई बात नहीं है, मैं बहुत जल्द लौट आऊंगा।”
 पत्नी—“यदि आप लौटेंगे तो अपने मित्रों और परिवार के
 लोगों के भाग्य से लौटेंगे।” पति—“जो तुम कहना चाहती हो
 कहो ! बोलो क्या कहना चाहती हो ?” पत्नी—“जब किसी
 तीर्थ में जाना तो मेरे लिये तिसाजलि दे देना, वस मैं यही
 चाहती हूँ।” तुम्हारे जाने के बाद तुम्हारे वियोग में मैं जीवित
 न रहूँगी, इस बात को कवि ने कौसी खूबी के साथ कहा है।

१२५

प्रहरविरतौ मध्ये बाह्यस्ततोऽपि परेऽथवा
 किमुत सकले जाते बाह्ये प्रिय त्वमिहेष्यसि ।
 इति विनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य प्रियासतो
 हरति गमनं बालालापं सवाष्यगलज्जलैः ॥

भाषार्थ —एक भोली भाली स्त्री है, जो एक क्षण के लिए
 भी अपने प्रियतम का वियोग सहन नहीं कर सकती। उसका
 पति बहुत दूर की यात्रा करने की तैयारी में है। उसे वह अपने
 भोले भाले उत्सुकता-भरे वचनों से इस प्रश्नर जाने से रोकना
 चाहती है—प्रियतम, बताओ तुम कब यहाँ लौटोगे ? एक पहर
 में या दोपहर में या तीसरे पहर में या पूरा दिन बिताकर ही यहाँ
 आओगे ?” ऐसे वचनों से वह भोली-भाली स्त्री, जो संकटो दिनों
 में पहुँचने योग्य स्थान है वहाँ जाने से, पति को अपनी आँखों से
 आँसू बहाकर रोक देती है। यह श्लोक अमरु कवि का है,

इसी का अनुवाद पदमाकर ने हिन्दी में, नीचेलिखे पद्य में, बहुत सुन्दर किया है—

सो दिन को मारग तहाँ को बेगि मांगि बिदा ,
 प्यारो पदमाकर प्रभात राति बोले पर ।
 सो सुनि पियारी पिय गमन बराइये को ,
 आसुनि अन्हाई बैठि आसन मुनीते पर ।
 बालम बिदेसै तुम जात हो तो जाउ ,
 पर साँची कहि जाउ क्य ऐही भौन रीते पर ।
 पहर के भीतर क दोपहर के भीतर ही ,
 तीसरे पहर पंगो साँझ ही बितीते पर ॥

१२६

स्मर्तव्या वयमिन्दुसुन्दरमुखि प्रस्तायतोऽपि त्वया
 सत्यं नाथ यदि प्रदास्यति विधिर्जातिस्मरत्वं मम ।
 एकस्मिन्नपि जन्मनि प्रियतमे जातिस्मरत्वं कथं
 प्राणाः पान्य समं त्वयैव चलिता. काद्यापि जन्मं कृता ॥

भाषार्थ.—यिदं जाते हुए पति धीरे उसकी पत्नी में जो बातचीत हुई वही इस दस्तोख में कवि ने प्रगट किया है । पति—
 “वन्द्रमुक्ति ! मुझे भी कभी-कभी स्मरण कर लेना ।” पत्नी—
 “नाथ ! भवस्य स्मरण करूँगी, यदि जन्मान्तर की बात मुझे याद रहेगी तो ।” पति—“प्रियतमे ! यह तुम क्या कहती हो ? एक ही जन्म में जन्मान्तर की बात कैसे ?” पत्नी—“हे पतिरु ! प्राण तो तुम्हारे साथ ही जा रहे हैं, फिर वही जन्म धीरे वही

शरीर कैसा ?" तुम्हारे जाने के बाद फिर मेरे प्राण नहीं रहेंगे, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है ।

१२७

वाच्यं तस्मै सहचरि भवद्भूरिविश्लेषवन्हो
स्नेहैरिद्धे मम वपुरिदं काम होता जुहोति ।
प्राणानस्मै तदहमुचितां दक्षिणां दातुमीहे
तत्रादेशो भवतु भवतां यत्त्वमेवामधीशः ॥

भावार्थः—एक विरहिणी कुलकामिनी अपनी एक सखी के द्वारा पति को यह सन्देश भेजती है—हे सखि, उनसे जाकर कहना कि कामदेव रूपी होता (यज्ञ करने वाला पुरोहित) मेरे शरीर को स्नेहरूपी घृत से प्रज्वलित, वियोगरूपी अग्नि में, हवन कर रहा है । अब उस पुरोहित को मैं प्राणरूपी दक्षिणा देना चाहती हूँ । किन्तु उसमें आपकी आज्ञा की आवश्यकता है, क्योंकि उन प्राणों के मालिक तो आप ही हैं । यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन प्राणों को त्यागकर विरह-तप्त जीवन से छुटकारा पा जाऊँ ।

१२८

वाचो मांगलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पे जने,
केलीमन्दिरमाहतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निःश्वासग्लपिताधरा परिपतद्वाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव शिव प्राणेशमालोक्ते ॥

कोमल करो से हटाती है, पर बार-बार तुम रति की साक्षात् मूर्ति उसके अधर का पान कर रहे हो। इस प्रकार तुम तो अपने मनोरथ में सफल और कृतकृत्य हो रहे हो और हम इसके प्रति अनुराग उचित है या अनुचित, इस तत्त्व के अन्वेष्टण में लगे हुए अपने मनोरथ में असफल होकर, कहीं के न रहे।

१३०

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो धूर्णत इव ।
प्रणामान्तः कोपस्तदपि न जहासि क्रुधमहो
स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम् ॥

भावार्थ :—इस श्लोक के सम्बन्ध में मयूर कवि और बाण-भट्ट का एक कथानक प्रचलित है—ऐसा कहा जाता है कि बाण मयूर कवि के बहनोई और परम मित्र थे। किसी दिन मयूर कवि रात के पिछले पहर जागे और उसके बाद कई श्लोक उन्होंने रच डाले। उन्हें बहुत रसीले समझ, मारे उत्सुकता के, अपने मित्र बाण कवि को सुनाने के लिए उनके दरवाजे पर पहुँचे। बाण कवि ठीक उसी समय अपनी पत्नी, मयूर कवि की बहिन को, जो मान से खूँटी हुई थी, प्रसन्न करने के लिए यह श्लोक रचकर सुना रहे थे। तीन चरण सुनाकर जब तक वे चतुर्थ चरण के शब्द सोच रहे थे, तब तक मयूर कवि वहाँ जा पहुँचे और स्वयं चतुर्थ चरण की पूति करते हुए बोले—“स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्”। यह सुनते ही बाण कवि प्रसन्नता से भरे हुए बाहर निकल आये और

मयूर से भेंट की। बाण की स्त्री ने अपनी क्रीडा में ऐसा रग-
मग देव, भाई को शाप दिया कि वह कोढ़ी हो जाये। मयूर
कोढ़ी हो गए और सूर्य शतक बनाने पर उस रोग से मुक्त हुए।
सूर्य शतक रचकर मयूर ने अपना कुछ दूर किया ऐसा वाक्य-
प्रमाण में भी मिलता है। श्लोक का भावार्थ यह है—

रान अब चीत-सी गयी है, चन्द्रमा भी अब क्षीण और
प्रकाशहीन होकर डूबने हो वाला है; यह दीपा भी जो रान
भर मेरे साथ जगा है, अब नींद में आकर सोपाई ले रहा है,
प्रणाम पर लेने पर क्रोध पा घन्त हो जाना चाहिये, पर
मेरे प्रणाम करने^{पर} भी अपना गोप नहीं दूर कर रही हो;
हे बठोर हृदय! मालूम होता है, बठोर स्तनों के पास रहते
रहते तुम्हारा हृदय भी बठोर हो गया है। सभी तो मेरे अनुनय
या कोई घर उत पर नहीं हो रहा है।

१३१

यव प्रस्थितासि परभोद घने निशोये
प्राणाधिपो यसति यत्र जनः प्रियो मे ।
एकाकिनी यव ययं न विभेपि याते
नन्यस्ति पंतितनरो मवनः सहायः ॥

अकेली कहा हूँ, घनुपवाण लिये हुए कामदेव जो मेरे साथ जा रहा है, फिर डर कैसा ? इसी भाव को लेकर पदमाकर कवि का हिन्दी अनुवाद है—

कौन है तू कित जात चली बलि वोती निशा अधराति प्रमाने ।
हो पदमाकर भावति हो निज भावत पे अबहो मुहि जाने ।
तो अलवेली अकेली डरै किन क्यो डरी मेरी सहाय के ताने ।
है सखि सग मनोभवसो भट कानलो दान सरासन ताने ॥

१३२

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभोरुणा ।

इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥

भावार्थ :—एक विरहिणी अपने प्रियतम के वियोग में कहती है—मेरे और प्रियतम के बीच रेखामान का भी अन्तर और अलगाव न हो, इसके लिये मैं पहले अपने कण्ठ में हार भी नहीं डालती थी, और अब यह दशा है कि हम दोनों के बीच हार तो क्या, बड़े-बड़े पर्वत, बड़ी-बड़ी नदियाँ और बड़े-बड़े वृक्ष आ गये हैं । इसी भाव का रहीम का यह बोहा भी है—

रहिमन इक दिन वे रहे, बीच न सोहत हार ।

वायु जो ऐसी बह गयी, बीचन परे पहार ॥

१३३

प्रियाविरहितस्यास्य हृदि चिन्ता समागता ।

इति मत्वा गता निद्रा के कृतघ्नमुपासते ॥

भावार्थ :—किसी विरही पुरुष का वर्णन करते हुए कवि

कहता है—अपनी प्रियतमा के विरह में व्याकुल उसके हृदय में चिन्ता समा गयी है, यह जानकर निद्रा जो उसकी चिर-सहचरी थी, उसे छोड़कर चली गयी । सच है कृतघ्न का कौन साथ देता है । हृदय में जब चिन्ता घर कर लेती है तो नींद कहा आती है ? इसी भाव का यह हिन्दी दोहा भी है :—

नीन्द पुरानी नेहिनी, रात न आयो हाथ ।

चिन्ता नव बधु देख के, भाकि भाकि चलि जाय ॥

१३४

यदि गजंति वारिधरो गजंतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः ।

अपि विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ॥

भावार्थ :—यर्षा काल में एक विरहिणी नायिका चमकती हुई बिजली को अवोधन करके कहती है—यदि यादल गजंते हैं तो गजें, क्योंकि पुरुष तो निष्ठुर होते ही हैं । परन्तु बिजली, तू तो स्त्री जाती है, क्या तू भी स्त्री जानि के दुर को नहीं समझती ? तो फिर क्यों मुझ विरहिणी को चमक कर सता रही है ?

१३५

स्मर्त्तव्याऽहं त्वया काले न स्मरिष्याम्यहं तव ।

स्मरणां चेतसो धर्मं तच्चेतो भयता हृतम् ॥

भावार्थ :—कोई स्त्री परदेन जाने हुए अपने पति से कहती है—यही-जभी, आपको ममय मिले तो मेरी भी याद कर सेना । किन्तु मैं तो आपकी स्मरण करूँगी नहीं, क्योंकि

स्मरण करना तो चित्त का धर्म है, उस चित्त को आप चुरा कर लिए जा रहे है। अतएव मैं आपको कैसे स्मरण करूँगी ? कुछ इसी भाव को लिये हुए एक उर्दू शेर भी है—

मैं जाता हूँ दिलको, तेरे पास छोड़े ।

मेरी याद तुझको, दिलाता रहेगा ॥

उर्दू के एक दूसरे कवि ने कहा है—

याद रखना हमारा भूल गये ।

भूरा जाना हमारा याद रहा ॥

एक और शेर है—

कोई तो अपने शरीरके हाल मुश्किल में रहे ।

तुम नहीं रहते तुम्हारी याद ही दिल में रहे ॥

१३६

यावद् यावद् भवति कलया पूर्णकामः शशांक-
स्तावत्तावद् द्युतिमयवपुः क्षीयते सा मृगाक्षी ।
मन्ये धाता घटयति विधुं सारमादाय तस्या-
स्तस्माद्यावन्न भवति सखे पूर्णिमा तावदेहि ॥

भावार्थः—इस श्लोक में कोई अपने मित्र को उसकी विरह-विधुरा प्रियतमा का हाल लिखकर सूचित करता है—जैसे-जैसे चन्द्रमा एक-एक कला बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उस मृगनयनी—आपकी प्रियतमा—का सुन्दर शरीर क्षीण होता जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भानो विधाता उसके शरीर का सारा-सार खींचकर चन्द्रमा को गढ़ रहा है। इसलिए मित्र ! जब तक पूर्णिमा न हो, तब तक मैं चले आग्रो। नहीं तो हाथ मल-मल कर पछनाना पड़ेगा, क्योंकि फिर पूर्णिमा के बाद उसका अस्तित्व कहाँ ?

१३७

अनुदिनमतितोयं रोदिषीति त्वमुच्चै.
 सखि किल कुरुषे त्वं चाच्यतां मे मुधैव ।
 हृदयमिदमनंगांगारसंगाद्वितीय
 प्रसरति बहिरंभः सुस्थिते नैतदश्रु ॥

भाषार्थ.—सखी के बार-बार समझाने पर कि तू क्यों रोया करती है, एक विरह-विधुरा स्त्री उत्तर देती है—“तू प्रतिदिन बहुत रोती रहती है” ऐसा कहकर हे सखी ! तুম मुझे क्यों बदनाम किया करती हो । कामाग्नि (विरहग्नि) से पिघल-पिघल कर यह मेरा हृदय पानी होकर आँखों से बह रहा है । हे विरह-पीडा से अनभिन्न, स्वस्थचित्तवाली सखि ! यह आँसू नहीं है । इसी भाव का विहारी का दोहा भी है—

तत्त्वो आव प्रति विरह को रह्यो प्रेम रस भोज ।
 नैननि के मग जल यहै हियो पसीज पसीज ॥

१३८

श्लिष्यति पश्यति ध्रुम्यति पुनः पुनः पुलकमुकुलितरंगः ।
 प्रियसंगाय स्फुरितां वियोगिनी वाममाह्वयताम् ॥

भाषार्थ —किसी विरहिली का वाया हाथ करना है । इस शुभ शकुन से यह समझकर कि प्रियतम आने ही वाला है, वह उत्सुकता और प्रेम के उद्वेग में, सभी अपनी बायीं मुजा या मासिगन करती है, सभी उसको देखती है, और सभी उसका ध्रुम्यन करती है ।

१३६

स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येक्ष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
सम्मोक्ष्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये ॥

भावार्थः—एक विरहिणी नयिका अपनी बाईं आँख को सम्बोधन करके कहती है—हे बाईं आँख, तुम्हारे फरकने से यदि वह मेरा प्रियतम आज आवेगा, तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि अपनी दाईं आँख को देर तक बन्द रख कर, तुम्हीं से उस को देखूंगी । इसी भाव को लेकर विहारी का यह दोहा है—

वाम बाहु फरकत मिले, जो हरि जीवनमूरि ।
तो तोही सो भेटि हों, राखि दाहिनी दूरि ॥

१४०

आगच्छन्मूचितो येन
येनातीतो गृहं प्रति ।
प्रथमः सखि कः पूज्यः
किं काकः किं क्रमेलकः ।

भावार्थः—चिरकाल के विरह के बाद किसी प्रियतमा का पति ऊँट पर चढ़कर परदेश से आया है । इस पर उसकी सखियाँ जब उसे बधाई देने के लिए आयी, तो उसने उनसे एक समस्या का समाधान पूछा । उसने कहा—“सखियो ! आज प्रातः काल ही कौवे ने मुझे प्रिय के आगमन का सन्देश दिया और ऊँट स्वयं उन्हें अपनी पीठ पर बिठाकर घर तक लाया है । अब

तुम मुझे यह बताओ कि मैं इन दोनों में से पहले किस का सम्मान करूँ, कोए का या ऊँट का ?

१४१

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरता ।

नावृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥

भावार्थ —एक विरहिणी किसी दूती के द्वारा अपने प्रिय-तम से कहती है—जब तुमको नहीं देखती, तब देखने की उत्कण्ठा बनी रहती है और जब तुमको देखती हूँ तो यह भय घना रहता है कि फिर तुमसे वियोग न हो जाय । इस प्रकार चाहे तुम्हें देखू या न देखू, तुमसे सुख मुझे बदा नहीं है । इसी भाव को लिये हुए यह हिन्दी का दोहा भी है—

देखे बनें न देखते, बिन देखे भबुनाहि

इन दुखियन अगियान को, मुग गिरजोहें नाहि ॥

एक उर्दू शक्ति का शेर भी कुछ इसी तरह का है—

हिज मे यस्ल का गम, बम्ल मे मिलने की उमीद ।

तीन कहता है कि, हिज्जल से बिसाल प्रच्छा है ॥

१४२

पंचत्वं यान्तु वाणाः समयपरिणतस्ते विदोर्लोस्तु चापः

क्रूरः क्रूराहियवर्त्रं विशतु तय रयो मा भव त्वं शरीरी ।

किं ते शापेन मादृग्युधतिवधमहापातकिन्मोनवेतो

शप्यः पायोजयोनिः स एतु रचित्तयान् पापिनो दोषमायुः ॥

भावार्थः—एक विरहिणी विरह के प्रलाप में कामदेव को शाप देती हुई कहती है—तेरे कुसुम के बाण नाश को प्राप्त हों; तेरा धनुष जो बहुत काल से जीर्ण हो गया है, टुकड़े-टुकड़े हो जाय; तेरा रथ क्रूर सर्प के मुख में चला जाय और तू कभी शरीर को धारण न करे। परन्तु मेरे सदृश अनेक युवतियों के वध से पाप की गठरी ढोने वाले ऐ कामदेव ! तुझे शाप देने से क्या लाभ ? सबसे बड़ा पापी तो कमल से उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा है, जिसने तुझ-जैसे पापी की इतनी लम्बी आयु बनायी है।

१४३

जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम् ।
इयं भूतिर्नागे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर किं मां व्यथयसि ॥

भावार्थः—एक विरहिणी प्रियतम के वियोग में प्रलाप करती हुई कहती है—हे कामदेव ! तुम मुझे अपना पुराना शत्रु, पुराराति महादेव, समझ कर सता रहे हो यह उचित नहीं है। मेरे सिर पर वेणी किया हुआ जो यह केशों का जूड़ा बन्धा हुआ है वह महादेव की जटा नहीं है, गले में जो यह कस्तूरी का लेप है वह महादेव जी का हालाहल पीने से नीला हो गया कण्ठ नहीं है; केशों में जो यह सफेद फूलों की कतार खुसी हुई है वह महादेव जी की जटा में स्थित अर्द्धचन्द्र नहीं

है, मेरे शरीर में प्रियतम के वियोग में, जो यह सफेदी छा गयी है, वह महादेव जी के शरीर पर पुता हुआ भस्म नहीं है। फिर व्यर्थ में मुझे क्यों महादेव के भ्रम में सता रहे हो ?

१४४

हृदयमाश्रयसे चत मामकं
ज्वलयसीत्यमनंग तदेव किम् ।
स्वयमपि क्षणवग्धनिजेन्धनः
यत्र भवितासि हताश हुताशवत् ॥

भावार्थ—एक विरहिणी प्रलाप में कामदेव को सम्योधन करने कहती है—हे कामदेव, तुम मेरे हृदय में रहने हो और उसी घपने पर जो जला रहे हो। जिस प्रकार घाग ईन्धन को जलाकर फिर स्वयं समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार तुम भी घपने पर—मेरे हृदय—को जलाकर फिर कहाँ रहोगे ? जरा सोचो तो सही ! फिर क्यों गता रहे हो ?

१४५

अनलस्तभनविद्यां सुभग भयान्नियतमेव जानासि ।
मन्मथशराग्नितप्ते हृदये मे कथमन्यथा यतसि ॥

भावार्थ.—कोई विरहिणी विरह के प्रलाप में घपने प्रियतम को सम्योधन करने कहती है—हे प्रियतम, निश्चय है कि तुम घाग को यज्ञ में करने की विद्या जानते हो। अन्यथा कामदेव के चाणों की घग्नि से जलते हुए इस मेरे हृदय में

तुम कैसे निवास करते ? निश्चय ही तुमने आग को वश में कर लिया है ।

१४६

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः ।

तच्च तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम् ॥

भावार्थः—संस्कृत भाषा में “मन” शब्द नपुंसक लिंग है, इस पर किसी कवि की सूझ है—मैंने यह समझ कर कि “मन” नपुंसक है उसे अपनी प्रिया के पास दूत बनाकर भेजा । किन्तु वह तो वही रम गया, आने का मन हो नहीं करता । सचमुच पाणिनि ने बड़ा धोखा दिया । न पाणिनि उसे नपुंसक लिंग लिखते, न मैं उसे वहाँ भेजता । इस श्लोक का हिन्दी में पद्या-नुवाद किसी ने इस प्रकार किया है—

मन चंचल और नपुंसक है, इस भाँति विचार बसीठ बगाया ।
वह पास गया जिसके उसने, रस खेल खिलाय वही बिरमाया ॥
निशि बीत चुकी पर भामिनि को, अब दो कवि शकर साथ न लाया ।

पढ़ि पाठ महामुनि पाणिनि के, हमने फल हाय ! भयानक पाया ॥

१४७

दृष्टिर्वन्दनमालिका स्तनयुगं लावण्यपूर्णौ घटी,
शुभ्राणां प्रकरः स्मितं भुमनसां वक्त्रप्रभा दर्पणः ।
रोमांचोद्गम एव सर्पपकणः पाणी पुनः पल्लवौ,
स्वांगरेव गृहं प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् ॥

भावार्थः—पति के परदेश से आने पर पत्नी हर्ष से कितनी प्रफुल्लित हो गयी, इसका सुन्दर वर्णन अमरु कवि ने इस श्लोक में इस प्रकार किया है—जब प्रियतम घर में प्रवेश करने लगा, तो द्वार पर ही उसको प्रियतमा ने अपने अगो से ही यथोचित मगलाचार पूरा किया। उसके एकटक देखने ने बन्दनवार का, दोनों पयोधरो ने लावण्यरूपी जल से भरे हुए दो घडो का, मीठी मुस्कान ने सफेद फूलों की वर्षा का, मुख की कान्ति ने दर्पण का, रोमाच ने ससों के दानों का तथा करो ने पल्लवों का काम दिया। इसी भाव का एक हिन्दी पद्य भी है, देखिये—
 इन्दीवरान को बर्जि सुलोचनि दीठिसो बन्दनवार बनाई,
 कुन्द चमेलिन मेलि कछु मुस्कयान सो दीन प्रसून बिछाई।
 स्वेद चुचात पयोधरसो दियो अर्घ न अभ सुकुंभ में लाई,
 आवत पीयके अगनिसो निज मगलरीनि सब निवटाई ॥

१४८

सत्यमेव गदितं त्वया प्रभो
 जीव एक इति यत्पुरावयोः ।
 अन्यदारनिहिताः नखग्रणा-
 स्तावके वपुषि पीडयन्ति माम् ॥

भावार्थ.—एक लपट पति अपनी पत्नी से प्रतिदिन कहा करता था कि “हम दोनों तो एक मन, दो तन हैं।” एक दिन जब वह किसी अन्य स्त्री के यहाँ से लौटकर आया, तो उसके अगो में रति-चिन्हों को देखकर पत्नी ताने के साथ कहती है—
 स्वामिन् । आप पहले जो कहा करते थे कि “हम दोनों

के प्राण एक है" सो आज सच्चा सावित हुआ । यदि हम दोनों के प्राण एक न होते तो आप के शरीर में अन्य स्त्री के द्वारा दिये गए नखक्षत मुझे क्यों पीड़ा देते ? नखक्षत आप के अंग में है, परन्तु पीड़ा मुझे दे रहे हैं । अतएव सिद्ध हुआ कि हम दोनों के शरीर अलग अलग है, पर प्राण एक हैं ।

१४६

दासे कृतागसि भवत्पुचितः प्रभूणां

पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये ।

उद्यत्कठोरपुलकांकुरकण्टकाग्रं-

यद्भिद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥

भावार्थः—किसी प्रगल्भा नायिका का वर्णन इस श्लोक में है । स्त्री के पाद-प्रहार करने पर पति कहता है—मैं तुम्हारा दास और अपराधी हूँ और तुम मेरी प्रभु हो । प्रभुओं का अपराधी सेवक को लात मारना उचित हो है । किन्तु हे सुन्दरि ! तुम्हारे पाद-प्रहार से मुझे दुःख इस बात का है कि तुम्हारे सुकुमार पैर मेरे शरीर में उठे हुए कठोर पुलकावली रूपी काँटी से विध गये होंगे, जिससे तुमको बहुत पीड़ा हुई होगी । मैं अपने इस अपराध की क्षमा चाहता हूँ ।

अंग—सौन्दर्य

१५०

तस्या मुखस्यातिमनोहरस्य
 कर्तुं न शक्तः सदृशं प्रियायाः ।
 अद्यापि शीतद्युतिरात्मबिम्बं
 निर्माय निर्माय पुनर्भिनत्ति ॥

भावार्थः—चन्द्रमा पूर्णमासी को तिथि में बार-बार पूरा होकर, बार-बार खोण होता रहता है। इस पर एक सुन्दरी के मुख की प्रशंसा में कवि की कल्पना है—उस प्रियतमा के मुख की तुलना करने में चन्द्रमा अभी तक असफल रहा है, पर चेष्टा करना नहीं छोड़ता। इसीलिए बार-बार वह अपने को बनाना रहता है और बार-बार मिटाता रहता है कि कदाचित् कभी तो सफल हो जाऊँ और उस सुन्दरी के मुख की बराबरी कर सकूँ।

१५१

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय धेयसा ।
 कृतमध्यविलं विलोचयते धृतगंभीरखनीखनीलिम ॥

भावार्थः—नैपथ्यचरित में महाकवि श्रीहर्ष दमयन्ती के मुख का वर्णन करते हुए, लिखते हैं—ब्रह्मा ने दमयन्ती का मुख रचने के लिए चन्द्रमा का सार खींच लिया। सार खींचने से

उसके बीच आर-पार एक छेद हो गया । उसी छेद के कारण चन्द्रमा के उस पार का नीला आकाश दिखाई पडने लगा । उस पार दिखाई पडने वाला नीला आकाश ही वह कलक है, जो चन्द्रमा में दिखाई पड रहा है ।

१५२

द्विधा विधाय शीतांशुं कपोलौ कृतवान् विधिः ।

तन्व्यास्तद्रसनिष्यन्दचिन्दवो रदनावली ॥

भावार्थः—किसी सुन्दरी के कपोलो और दाँतो की प्रशंसा में कवि कहता है—ब्रह्मा ने चन्द्रमा को दो भागों में काट कर उसके कपोलो का निर्माण किया तथा चन्द्रमा की दो फाँक करने से जो रस की वृन्दें टपकी, वही दाँतो की दो पक्तियाँ बन गयी ।

१५३

विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ ।

घृत्पुद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागंगुलियंत्रणोव ॥

भावार्थः—दमयन्ती के चिबुक (ठुडो) के वर्णन में महा-कवि श्रीहर्ष की कल्पना है कि ब्रह्मा जब उसकी सुन्दरता गढ़ चुका, तब उसका मुख उठाकर आत्मसन्तोष के लिए देखा कि कैसी बनी है । अंगुली से ठुडो को उठाया, इसलिए ठुडो में हलका-सा गड्ढा (dimple) पड गया, जो मुख को और भी सुन्दर बना रहा है ।

१५४

आकाशात्पतितं पुनर्जलनिधौ मध्ये चिरं संस्थितं
 पश्चाद्दुःसहदेहरन्ध्रजनितबलेशान्वितं मौषितकम् ।
 बाले बालकुरंगलोचनयुगे घोरं तपः संचरत्
 नासा भूषणतामुपैति सखि ते बिम्बाधरापेक्षया ॥

भावार्थः—एक सखी किसी नायिका की नासिका और
 अधर की प्रशंसा में कहती है—हे मृग-छीने के समान नेत्र वाली
 सुन्दरि ! इस मोती ने बड़ी तपस्या की है, तब फही जाकर
 तुम्हारी नासिका तक पहुँच सका है । पहले वह आकाश से
 स्वाती नक्षत्र के वृन्द के रूप में गिरा, फिर बहुत दिनों तक
 समुद्र के गर्भ में पड़ा रहा, वहाँ से फिर मोती के रूप में निकला
 और बाद की उसका शरीर छेदा गया । यह सब असहनीय कष्ट
 उसने इस लिए सहे हैं, कि अन्त में तुम्हारी नासिका का
 आभूषण बनकर, तुम्हारे बिम्ब के समान अधर का पान कर
 सके ।

१५५

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्
 मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्यम् ।
 ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्या-
 स्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

भावार्थः—जालिदास कुमार सम्भव में पार्वती के अधरों पर

मुस्कान का वर्णन करते हुए लिखते हैं—यदि श्वेत खिले हुए पृष्प को लाल ~~कमल~~ ^{के पल्लव} पर रख दिया जाय अथवा स्वच्छ मोती को पूर्ण विकसित मूंगे पर रख दिया जाय, तभी वह पार्वती के लाल श्रोण पर फँसी हुई मुस्कान की शोभा का अनुकरण कर सकता है ।

१५६

इन्वीवरं लोचनयोस्तुलायं
निर्माय यत्नेन विधिः कदाचित् ।
अतुल्यतां वीक्ष्य ततो रजांसि
निक्षिप्य चिक्षेप स पंकमध्ये ॥

भावार्थः—ग्रह्या ने सुन्दरी के नेत्रों की तुलना करने के लिए बड़े यत्न से कमल को बनाया, पर जब देखा कि वह उसकी तुलना नहीं कर सकता, तो खिन्न होकर उसे तिरस्कृत कर दिया और उस पर पराग के रूप में धूल फेंक कर, कीचड़ में फेंक दिया । इसलिए कमल कीचड़ में होने लगा और पंकज कहलाने लगा ।

१५७

कस्तूरीतिलकं भाले वाले मा कुरु मा कुरु ।
अथ साम्यं भजाभीतिर्जृम्भते शशलांघनः ॥

भावार्थः—कोई सुन्दरी अपने माथे पर कस्तूरी का तिलक लगा रही है । इस पर कवि उसको सम्बोधन करके कहता है—

“हे बाले, अपने माथे पर कस्तूरी का तिलक मत लगाओ !
 मत लगाओ ! क्योंकि अभी तक तो चन्द्रमा सकलक था और
 तुम्हारा मुख सर्वथा निष्कलक था, पर अब कस्तूरी का बाला
 तिलक लग जाने से, वह भी सकलक हो गया । अतएव चन्द्रमा यह
 समझ कर कि अब मैं इसके बराबर हो गया, हर्ष के मारे फूला
 नहीं समाता ।

१५८

वर्द्धते मुखसादृश्यमवाप्तुं हरिणीदृशः ।

क्षीयते भ्रूतुलायेतुमुभयोरक्षमो विधिः ॥

भाषार्थः—चन्द्रमा बढ़ता और घटता रहता है, इस पर
 किसी वधि की अनोखी चलना है कि इस मृगनयनी के मुख की
 बराबरी पाने के लिए चन्द्रमा बढ़ता है । पर जब देखता है कि
 मैं उसके मुख की समता नहीं पा सकता, तो घटने लगता है कि
 यदापित् उसके भी की बराबरी पा जाऊँ, किन्तु वह हममें भी
 असफल होता है । इसी भाव का एक पारसी का शेर भी है—

महं शुद्ध तमाम ताचे रुमे ऊशवद् न शुद् ।

बाहीद बाज ताक्षमे अवर्त्त नवद् न शुद् ॥

१५९

प्रयिज्ञ भटिति गेहं मा यहिस्तिष्ठ कान्ते

ग्रहणसमयेता वतंते शीतरश्मेः ।

तय मुखमकतंकं योदय नूनं स राट्ट-

पंसति तय मुलेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय ॥

भावार्थः—चन्द्रमा को ग्रहण लगने वाला है, उस पर एक कवि किसी सुन्दरी से कहता है—हे सुन्दरी, चन्द्रमा का ग्रहण अब लगने ही वाला है। इसलिए भट्ट से घर के भीतर चली जाओ, बाहर मत खड़ी रहो। मुझे डर लगता है कि तुम्हारे निष्कलंक मुख को देख, राहु सकलंक पूर्णिमा के चान्द को छोड़कर, कही तुम्हारे कलंक-रहित मुख-चन्द्र को न ग्रस ले। कुछ इसी तरह की अतिशयोक्ति एक उर्दू शेर में भी है—

वाम पर नगे न जाओ, तुम शवे महताब मे ।
चान्दनी पड़ जाएगी, मैला वदन हो जाएगा ॥

१६०

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमञ्जनं कररहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

भावार्थः—कालिदास शकुन्तला की सुन्दरता के वर्णन में कहते हैं—इसका सर्वांगसुन्दर रूप एक ऐसा पुष्प है जिसको अभी तक किसी ने सूँघा नहीं है; एक ऐसा कोमल किसलय (कोपल) है जो किसी के नख से अभी तक तोड़ा नहीं गया है; एक ऐसा नवीन मधु है जिसको अभी तक किसी ने चखा तक नहीं है; ऐसे पुष्प का फल है जो अखण्ड है और जिसको कोई सीमा नहीं है—माजूम नहीं द्रष्टा किसको इसका भोग करने वाला चुनेगा ।

१६१

नतांगि त्वद्वक्त्रश्रियमसहमानः कृशतनु-
जंठारण्ये स्थित्वा गलदमलगंगे गुहगुरोः ।
त्रियामाप्राणेशः शृणु निजकलकं शमयितुं
समुद्यत्संकल्पः परिचरति मन्ये तप इति ॥

भाषार्थ.—महादेव जी की जटा में द्वितीया का चान्द बणो है, इस पर किसी कवि की मनोखी कल्पना है । कोई कवि किसी स्त्री को सम्बोधन करके कहना है—हे सुन्दरी, चन्द्रमा, तुम्हारे मुख की शोभा को न सहकर तथा दुःख के मारे दुबला होकर, महादेव जी की जटा रूपी वन में, वहाँ से निकलती हुई पवित्र गंगा के किनारे, तुम्हारे मुख की समता पाने की लालसा से, अपने बलक को दूर करने का संकल्प लेकर, मानो कठोर तपस्या कर रहा है ।

१६२

सरसिजमनुचिद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा यत्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

भाषार्थ.—तनुन्तला के रूप की प्रशंसा में कालिदास कहते हैं—बमल मद्यपि शैवाल (सेवार) से लिपटा रहता है तथापि उसी से उसकी शोभा और अधिक रमणीय होती है, चन्द्रमा

यद्यपि मैंले कलक से अकित रहता है तथापि उसी से उसकी रमणीयता बढ़ जाती है, इसी प्रकार यह कोमलांगी शकुन्तला यद्यपि केवल धत्कल (पेड के छाल का बना हुआ वस्त्र) पहने हुए है तथापि उसी में यह और भी मनोहर लग रही है। सब है जो मधुर आकृति वाले हैं, उन्हें कोई भी वस्तु शोभा देने वाली हो जाती है।

१६३

अभिलषति यदीन्दो वक्त्रलक्ष्मीं मृगाक्ष्याः
पुनरपि सकृदब्धौ मज्ज संक्षालयाम् ।
सुविमलमथ बिम्बं पारिजातस्य गन्धैः
सुरभय वद नो चेत्त्वं वव तस्या मुखं वव ॥

भावार्थः—कोई नायक अपनी प्रियतमा के मुख की प्रशंसा में चन्द्रमा को संबोधन करके कहता है—चन्द्रमा, यदि तू उस ऋगनयिनी के मुख को शोभा प्राप्त करना चाहता है, तो एक बार फिर समुद्र में डूब कर अपने कलक (काले धब्बे) को धो डाल। इस प्रकार अपने गोल बिम्ब को स्वच्छ करके वही पारिजात (कल्पवृक्ष) की सुगन्ध से अपने को सुगन्धित कर। तब वही तू इसको बराबरी कर सके। नहीं तो कहाँ तू और कहाँ उसका मुख।

१६४

उन्मेषं यो मम न सहते जातिर्वरी निशाया-
मिन्दोरिन्दोवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदपः ।

नीतः शान्तिं प्रसभमनया वञ्चकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥

भावार्थः—किसी सुन्दरी के चन्द्रमा को भी लजाने वाले
मुख तथा कमल के समान सुन्दर चरणों की प्रशंसा में कवि
कहता है—“मेरा जन्मजात वैरी चन्द्रमा रात में मेरा विकास
नहीं सह सकता, उसी चन्द्रमा के सौन्दर्य-दर्प को इस कमल-
नयनी ने अपने मुख की कान्ति से चूर कर दिया है”—यस
इसी प्रसन्नता के मारे, अपनी कृतज्ञता प्रगट करने के लिये,
हे कोमलांगि ! कमल की शोभा तुम्हारे पैरों में आकर पड़
गयी है ।

यदि कोई स्वयं अपने वैरी को न जीत सके और दूसरा
कोई उस वैरी को हरा दे, तो उसका प्रसन्न होना स्वाभाविक
ही है और तब वह हराने वाले के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट
करने के लिए, अपना सिर उसके चरणों पर रख देता
है । इसी प्रकार कमल ने भी उस कामिनी के मुख से अपने
वशु चन्द्रमा को पराजित देस कर, अपनी कृतज्ञता प्रगट करने
के लिये, अपनी कान्ति उसके चरणों में समर्पित कर दी ।
उसका मुख चन्द्रमा से और उसके चरण कमल से भी अधिक
सुन्दर हैं, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग में कहा है ।

१६५

अरण्यं सारंगेगिरिकुहरगर्भाश्च हरिभि-
दिशो दिङ्मार्तगैः सलिलमुषितं पंकजयनः ।

प्रियाचक्षुर्मध्यस्तनवदनसौन्दर्यविजितैः

सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरगमनम् ॥

भावार्थः—एक मनुष्य अपनो प्रियतमा के अंग-सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कहता है—मेरी प्रिया के नेत्रों के सौन्दर्य से पराजित होकर, मृगों ने वन में शरण ले ली है; कटि के सौन्दर्य से पराजित होकर, सिंहों ने पहाड़ की गहरी गुफाओं में निवास ले लिया है; चाल के सौन्दर्य से पराजित होकर, दिग्गज हाथी दिशाओं के छोर में चले गये हैं और मुख के सौन्दर्य से पराजित होकर, कमलों के समूह, डूब भरने के लिये, पानी में चले गये हैं। ठीक है, जब अच्छे लोगों का मान-मर्दन होता है, तो उनके लिये या तो मर जाना या दूर भाग जाना ही श्रेयस्कर है।

१६६

श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं

किन्तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च ।

नो चेत्कथं निपततादनयोस्तदेव

मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ॥

भावार्थः—आँखों की प्रशंसा में किसी कवि की यह कल्पना अनोखी है—मृगनयनी की आँखों में जो यह कालापन और सफेदी है, सो वास्तव में यह कालापन और सफेदी नहीं है, बरन विष और अमृत है। यदि ऐसा नहीं है तो फिर क्या बात है कि जिन युवाओं पर उसकी नज़र पड़-जाती है, वे एक साथ ही मतवाले

भी हो जाते हैं और आनन्द में विभोर हो उठते हैं । अर्थात् आँखों में जो कानापन है वह जहर है, जिसके असर से युवक-गण मत्तवाले हो जाते हैं और आँखों में जो सफेदी है वह अमृत है, जिसका असर पड़ते ही वे आनन्द-लहरी में गोता लगाने लगते हैं । इसी भाव का हिन्दी का एक दोहा भी है । दोहा यह है—

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत श्याम रतनार ।

जियत मरत भुकि भुकि परत, जेहि चितवत एक बार ॥

एक दूसरे कवि ने इस श्लोक का हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार किया है—

श्याम सेत यह रंग नही प्यारी के चर को,
किन्तु गरल अरु सुधा अहै तिहि सकत न लखयो ।

ना तो वैसे परत जाहि के तन पर ता छन,
मोहत अति ही और मुदित मन होत युवागन ॥

एक उर्दू कवि का एक दोहा भी इसी भाव का है—

मजा यसात का चाहो तो मा बैठो इन आँखों में ।

सफेदी है, सियाही है, शफक है, अश्रुवारा है ॥

१६७

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु फान्तिप्रदः

भृंगारंफरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाम्पासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तफौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

भाषार्थः—इस नायिका को रचते समय, अनुमान है कि ब्रह्मा या तो मनोहर कान्ति देने वाला चन्द्रमा हो गया था या शृ गाररस के एक-मात्र अधिष्ठाता कामदेव के रूप में हो गया था या पुष्पो से लदे हुए वसन्तऋतु का मनमोहक चैनमास हो गया था । अन्यथा वेदाभ्यास करते-करते जो नितान्त जड़ (नोरस) हो गया है और विषयो से जिसका मन हट गया है, ऐसा बूढ़ा नोरस ब्रह्मा, कहां से ऐसा सुन्दर मनोहर रूप गढ़ सकना था ?

१६८

अस्याश्चेद्गतिसौकुमार्यमधुना हंसस्य गर्वरत्नं
संलापो यदि धार्यतां परभृतंवाचिंयमत्वव्रतम् ।
श्रंगानामकठोरता यदि दृष्टप्रायेव सा मालती
कान्तिश्चेत्कमला किमत्र बहुना काषायमालम्बताम् ॥

भाषार्थः—यदि यह सुन्दरो अपनी सुकुमार गति से गमन करे, तो उसे देखकर हंस अपनी घाल का गर्व सदा के लिए भूल जाय । यदि यह अपनी मधुर वाणी से संलाप करे, तो कोयल सदा के लिए मौनव्रत धारण कर ले । यदि इसके श्रंगों की सुकुमारता को देखा जाय, तो इसकी तुलना में मालती लता भी पत्थर के समान कठोर मालूम पड़े । और यदि इसकी कान्ति को देखे तो लक्ष्मी भी लज्जा के मारे, सन्यास ग्रहण कर, भिक्षुणी बन जाय ।

१६६

एष्यन्ति यावद्गणनाद्दिगन्तान्नुपाः

स्मरार्त्ताः शरणो प्रवेष्टुम् ।

इमे पदाब्जे विधिनापि स्तब्धा-

स्तावत्य एवांगुलयोऽत्र रेखाः ॥

भाषार्थः—दोनों पैरों में सब मिलाकर दस अंगुलियां बची हैं, इस पर दमयन्ती के वशंन में महाकवि श्रीहर्ष कहते हैं—दशो दिशाग्रो से कामार्त राजा लोग इसके चरण-रामल में शरण पाने के लिए आयेंगे—इसी बात को बताने के लिए ही, मानो ब्रह्मा ने इसके पैरों में अंगुलियों के रूप में दस रेखाएँ खींची हैं ।

१७०

सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं

मुक्ताकलापं लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।

यारुणः स्मरस्य दातृशो विनिर्मुक्तमर्मा

स्यन्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥

भाषार्थः—कोई कवि अपनी प्रियतमा के यशःस्थल पर सटकते हुए मोतियों के हार को सम्बोधन करके कहता है—ऐ मुक्ताहार, तুম सिर्फ एक बार ही मुझ को मोह से छेदे गये हो

और उसी के फलस्वरूप मेरी प्रियतमा के स्तनों पर लोट रहे हो। अरे ! हम तो सेकड़ों बार कामदेव के वाणों से मर्म-स्थान में छेदे गये हैं, पर हमें तो वह स्वप्न मे भी दिखाई नहीं देती ! ।

यश और प्रताप

१७१

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
वेवाकर्ण्य येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥

भावार्थ — किसी राजा की प्रशंसा में एक कवि कहता है—
“हे राजन्, जब आप युद्ध के मैदान में धनुषबाण लेकर आये
और धनुष को आपने चढ़ाया तो सुनिये किस-किसने किसको-
किसको पाया । धनुष ने बाणों को पाया, बाणों ने शत्रु के
शिर को पाया, शिर ने पृथ्वी तल को पाया, पृथ्वी-मण्डल ने
आपको पाया, आपने अतुल कीर्ति को पाया और कीर्ति ने तीनों
लोको को पाया । संग्राम में विजय पाने से आपकी कीर्ति तीनों
लोको में फैल गयी—इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से
कहा है ।”

१७२

हिमशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरत्सु
स्तनतपनवनांभोहर्म्यंगोक्षीरपानैः ।

सुखमनुभव राजन् शत्रवो यान्तु नाशं
दिवसकमललज्जाशर्वरोरेणुपंकैः ॥

भावार्थ—किसी राजा को आशीर्वाद देना हुआ कवि कहता है—हे राजन् (१) हेमन्त, (२) शिशिर, (३) वसन्त, (४) ग्रीष्म, (५) वर्षा तथा (६) शरत् इन छहो ऋतुओं में आप क्रम से (१) स्त्रियों के स्तन, (२) सूर्य का घाम, (३) वन तथा बाग, (४) नदी तथा सरोवर का जल (५) ऊँचे-ऊँचे महल और (६) गौ का दुग्ध, इन वस्तुओं से ऋतुओं के अनुसार सुख का अनुभव करें और आपके शत्रु ऋतुओं के अनुसार यथाक्रम (१) दिन, (२) कमल, (३) लज्जा, (४) रात, (५) धूल तथा (६) पक के साथ-साथ नाश को प्राप्त हो ।

१७३

यथा यथा ते सुयशो विवर्द्धते
सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम् ।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते
प्रियालकालीधवलत्वशंकया ॥

भावार्थः—किसी राजा की प्रशंसा में कोई कवि कहता है—
‘हे राजन्, तीनों लोको को दवेत करता हुआ आपका यश जैसे-
जैसे फैलता जा रहा है, वैसे-वैसे मेरे हृदय में शका बढ़ती जा
जा रही है । शका यह है कि जब समस्त जगत् दवेत हो जायेगा,
तो वही मेरी प्रियतमा की अनवावली भी सफेद न हो जाय ।
तब मैं क्या करूँगा, यही मेरी चिन्ता है ।

१७४

देव त्वद्यशसि प्रसर्पति जगल्लक्ष्मीसुधोच्चैःश्रव-
श्चन्द्रैराघतकौस्तुभाः स्थितिमिवामन्यन्त दुग्धाम्बुधौ ।
किन्त्वेकः पुनरस्ति दूषणकणो यन्नोपयाति भ्रमा-
त्कृष्णं श्रीः शितिकण्ठमद्रितनया नीलाम्बरं रोहिणी ॥

भावार्थः—किसी राजा को प्रशंसा में एक कवि कहता है—
हे राजन्, आपका यश जगत् में फैलते ही चारों ओर श्वेत ही
श्वेत हो गया और लक्ष्मी, सुधा, उच्चैःश्रवा घोड़ा, चन्द्रमा,
ऐरावत हाथी, कौस्तुभ मणि इत्यादि जितने पदार्थ समुद्रमन्यन
से निकले थे, सब के सब फिर से अपना निवास क्षीर-सागर में
समझने लगे । लेकिन इससे एक बात बड़ी खटकने वाली हो
गयी—वह यह कि समस्त जगत् में श्वेत ही श्वेत हो जाने से,
लक्ष्मी भ्रम से कृष्ण के पास, पार्वती जी नीलकण्ठ महादेव के
पास और रोहिणी नीलवस्त्रधारी बलदेव के पास नहीं जाती,
क्योंकि आप के यश के प्रभाव से कृष्ण का शरीर, महादेव का
कण्ठ और बलदेव का नीला वस्त्र सब का सब सफेद हो गया ।
इससे लक्ष्मी इत्यादि को कृष्ण इत्यादि के बारे में भ्रम हो रहा
है कि वे हमारे पति हैं या और कोई ।

१७५

त्वद्यशोजलधौ राजन् निमज्जनभयादिव ।
सूर्येन्दुबिम्बमिपतो घत्ते कुंभद्वयं नभः ॥

भावायः—किसी राजा की प्रशंसा में एक कवि कहता है—
हे राजन्, तुम्हारे यश रूपी समुद्र में कहीं डूब न जाऊँ, इस डर
से आकाश, तैरने के लिए, सूर्य-विम्ब और चन्द्र-विम्ब इन दो
घड़ों को धारण किये हुए है। एक ओर सूर्य और दूसरी ओर
चन्द्रमा ये दो घड़े हैं, जिन्हें आकाश, डूबने से बचने के लिए,
अपने गले में लटकाये हुए है।

१७६

राजंस्त्वत्कीर्तिचन्द्रेण तिथयः पूर्णिमाः कृताः ।
मद्गोहान्न बहिर्याति तिथिरेकादशी भयात् ॥

भावायः—एक भूख का सताया हुआ, कोई निर्धन कवि,
किसी राजा से याचना करता हुआ कहता है—हे राजन्,
आपके यश रूपी चन्द्रमा का प्रकाश चारों ओर फैलने से कहीं
अन्धकार नहीं रहा और जितनी तिथियाँ थी सब पूर्णिमा हो
गयी। परन्तु मेरे घर से एकादशी डर के मारे नहीं जाती अर्थात्
मेरे घर में तो सदा एकादशी ही बनी रहती है। अन्न न होने से
मेरे घर में सब की भूखा रहना पड़ता है, इसलिए कुछ दीजिए—
इस बात को कवि ने कैसे व्यंग्यात्मक रूप से कहा है।

१७७

सरस्वती स्थिता वषट्ते लक्ष्मीर्धैर्यमनि ते स्थिता ।
कीर्तिः किं कुपिता राजन्येन देशान्तरं गता ॥

भावायः—किसी राजा की कीर्ति दिग्दिगान्तर में फैली

हुई है, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है—हे राजन्, सरस्वती आपके मुख में बसी हुई है और लक्ष्मी आपके घर में ठहरी हुई है । पर क्या कारण है कि आपको कीर्ति आपसे रूठ कर दूर-दूर के देशों में चली गयी है ?

१७८

त्वत्कीर्तिराजहंस्या चैरिवधूवदनभाजनस्यमपि ।

पोतं हासक्षोरं व्यवतीकृतमश्रुनीरं च ॥

भावार्थ.—बिसी राजा की प्रशंसा में कवि कहता है—हे राजन्, राजहंस का नीरक्षीर विवेक आपके, सम्बन्ध में पूरणरूप से चरितार्थ होता है । आपको कीर्ति रूपी राजहंसी ने, आपके शत्रुओं की रानियों के मुख रूपी पात्र में रखे हुए, हास रूपी दूध को तो पी लिया और घाँसू रूपी नीर को छोड़ दिया । आपके द्वारा जीते गए शत्रुओं की रानियाँ रो रही हैं और उनका हँसना-बोलना सब लोप हो गया है, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है ।

१७९

कीर्तिस्वर्गतरगणीभिरभितो धैकुण्ठमाप्लावितं

क्षोणीनाथ तव प्रतापतपनः सन्तापितः क्षोरधिः ।

इत्येवं दयितायुगेन हरिणा त्वं याचितः स्वाश्रयं

हृत्पद्मं हरये श्रिये स्वभवनं कण्ठं गिरे दत्तवान् ॥

भावार्थ:—एक कवि किसी राजा को प्रशंसा में कहता है—
 पृथ्वीनाथ, आपकी कीर्ति रूपी स्वर्गगंगा की बाढ़ में, वंकुण्ठ
 विलकुल डूब गया और क्षीरसागर भी आपके प्रताप रूपी सूर्य
 के ताप से सन्तापित हो गया । अतएव विष्णु भगवान् के लिए,
 जो या तो वंकुण्ठ में रहते थे या क्षीरसागर में, अब रहने के
 लिए कोई ठौर न रह गया । तब उन्होंने अपनी दोनों स्त्री,
 लक्ष्मी और सरस्वती, सहित आपसे रहने के लिए स्थान मागा ।
 जिस पर आपने विष्णु भगवान् को अपना हृदय रूपी कमल,
 लक्ष्मी को अपना भवन और सरस्वती को अपना कण्ठ रहने
 के लिए दे दिया । आपके हृदय में विष्णु भगवान् का, आपके
 घर में लक्ष्मी का और आपके मुख में सरस्वती का वास है—इस
 बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है ।

१८०

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
 स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो सत्कवीनां स्वभावः ।
 गेहे गेहे विपरिण्यु तथा चत्वरं पानगोष्ठ्या-
 मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो बल्लभा देव कीर्तिः ॥

भावार्थ:—एक कवि किसी राजा के पास जाता है और उस
 के यश का वर्णन करता हुआ कहता है—महाराज, किसी के
 घर का छिद्र कहने से मेरा कोई मतलब नहीं है । पर मैं क्या
 कहूँ, कवियों का यह स्वभाव होना है कि वह चुप नहीं रह
 सकते, अतएव कहना पड़ता है कि आपकी कीर्ति कौसी उच्छ्रयल

हो गयी है कि घर में नहीं बैठती । घर-घर में, बाजारों में, चौराहों पर, यहाँ तक कि मधुशालाओं (मदिरालयों) में भी, जहाँ लोग शराब पीते हैं, उन्मत्त होकर घूम रही है । आप की कीर्ति चारों ओर फैली हुई है, इस बात को कवि ने कैसे मनोखे ढंग से कहा है ।

१८१

अत्युन्नतैस्ते यशसां प्ररोहैर्जतिं सितं विश्वमिदं समस्तम् ।
नोचेत्फिरंगाः सितदेहरंगा द्वीपान्तरे ब्रूहि कथं विभान्ति ॥

भावार्थः—एक राजा के यश की प्रशंसा में कवि कहता है—हे राजन्, आपके उन्नत और निरन्तर बढ़ते हुए यश का जैसे-जैसे विस्तार होता गया, वैसे-वैसे समस्त ससार द्रवित होता गया । यदि यह बात नहीं है तो आप ही बताइये, इंग्लैण्ड, योरप, अमेरिका आदि देशों में जो ये सफेद रंग के लोग दिखाई पड़ते हैं, वे वहाँ कैसे दिखाई पड़ते । आप ही के यश की कृपा से वे सफेद हो गए हैं ।

१८२

महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धयलिते
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते ।
कपर्दी कैलाशं सुरपतरपि स्वं करिवरं
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥

भावार्थः—कोई कवि किसी राजा के यश का वर्णन करता

हुआ कहता है—महाराज, आपके निर्मल, श्वेत यश के प्रभाव से समस्त संसार श्वेत-ही-श्वेत हो गया। उस अवस्था में जितनी श्वेत वस्तुएं थी वह श्वेत रंग में ढक गयीं। श्वेत और श्वेत में कोई अन्तर नहीं रहा। अतएव भ्रम में पड़कर भगवान् विष्णु अपने क्षीर-सागर को, महादेव जी अपने कैलाश को, इन्द्र अपने श्वेत ऐरावत को, राहु चन्द्रमा को, ब्रह्मा जी अपने श्वेत हंस को दूँढ रहे हैं कि कहाँ गया।

१८३

मेघो भाति जलेन गोस्तु पयसा विद्वन्मुखं भाषया
 तारुण्येन च कामिनी मधुरया वाण्या पिकः खं जलात् ।
 मालिन्यान्नयनं श्रिया च सदनं ताम्बूलरागान्मुखं
 ब्रह्माण्डं सकलं त्वया नरपते भाति स्म विभ्रं महत् ॥

भावार्थः—किमी राजा की प्रशंसा में एक कवि कहता है—
 हे राजन्, मेघ की शोभा वर्षा से होती है, गाय को शोभा उसके दूध से होती है, विद्वान् के मुख की शोभा उसकी वाणी से होती है, स्त्री की शोभा उसकी तरुनाई से होती है, कोमल को शोभा उसकी मधुर बोली से होती है, आकाश की शोभा जल से होती है, नेत्रों की शोभा काजल से होती है, सदन की शोभा धन से होती है, अघर की शोभा पान की लाली से होती है, पर समस्त जगत् की शोभा केवल आप से ही है।

१८४

आयुर्वृद्धिमुपेतु ते नरपते हेमन्तरात्रिर्यथा
 लोकानां प्रियवर्धनो भव सदा हेमन्तसूर्यो यथा ।
 लोकानां भयवर्धनो भव सदा हेमन्तसोयं यथा
 नाशं यान्तु तवारयोऽपि सततं हेमन्तपद्मं यथा ॥

भावार्थः—हेमन्त ऋतु मे कोई कवि किसी राजा के पास जाकर, हेमन्त ऋतु का वर्णन करता हुआ, राजा को प्रशंसा देता है—हे राजन्, आपकी आयु उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त हो; जिस प्रकार कि हेमन्त की रात्रि वृद्धि को प्राप्त होती है, आप लोगों को वैसे ही प्रिय हो जैसे कि हेमन्त का सूर्य (धाम) लोगों को प्रिय होता है, आप का प्रताप लोगों को वैसे ही भयदायक हो, जैसा कि हेमन्त ऋतु मे जल लोगों को भय-दायक होता है, और आपके शत्रु उसी तरह नाश को प्राप्त हों, जिस तरह कि हेमन्त ऋतु मे कमल नाश को प्राप्त होता है ।

१८५

अर्घं दानववैरिणा गिरिजयाऽप्यर्घं हरस्याहृतं
 देवेत्यं भुवनत्रये स्मरहराभावे समुन्मीलति ।
 गंगा सागरमम्बरं शशिकला शेषश्च पृथ्वीतलं
 सर्वज्ञत्वमघोश्वरत्वमगमत्त्वा मां च भिक्षाटनम् ॥

भावार्थः—किसी राजा के पास जाकर एक कवि कुछ पाने

की लालसा से उसकी प्रशंसा में कहता है—हे राजन्, भगवान् महादेव का आधा भाग तो विष्णु भगवान् ने ले लिया और आधा भाग पावती ने । इस प्रकार जब महादेव जो विलकुल लोप हो गये, उनका अस्तित्व ही न रहा, तो जो जो उन पर निर्भर थे, वे निराधार हो कर अन्यत्र चले गये । जैसे कि उनको जटा में रहने वाली गंगा समुद्र में चली गयी और चन्द्रमा की कला आकाश में चली गयी । शेषनाग जो उनके गले का हार था, पाताल में चला गया । उनकी सर्वज्ञता और अधीश्वरता आपके पास आ गयी । परन्तु जो उनका मिखाटन (दर दर भीख मागना) था वह मेरे पास आ गया । अर्थात् मैं याचक होकर आया हूँ, मुझे कुछ दीजिये, इस बात को कवि ने कैसे अच्छे ढंग से कहा है ।

१८६

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव द्विधा च विदुषां च मृगोद्गतां च ।
तापं च संमदरसं च रतिं च पुष्पान्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥

भावार्थः—कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा में कहता है—हे राजन्, आप हैं तो एक, पर तीन जगह अर्थात् शत्रुशो के हृदय में, विद्वानों के हृदय में तथा मृगनयनी स्त्रियों के हृदय में, अलग-अलग निवास करते हैं, यह एक बड़ी विचित्र बात है । शत्रुशो के हृदय में आप अपनी वीरता की गर्मी से ताप, विद्वानों के हृदय में आप अपने विनयगुण से हर्ष और युवतिशो के हृदय

मे आप अपनी रतिलीला से शृंगार रस, एक साथ उत्पन्न करते हैं—यह एक अनोखी घटना है ।

१८७

तुलाधारो धाता यदति वसुधा शूर्पपदवीं
फणीशः स्यात्सूत्रं कनकशिखरो मानपत्तिका ।
तुलादण्डः सत्यं यदि भवति दामोदरगदा
तथाप्येषोऽश्वयस्तव गुणसमूहस्तुलयितुम् ॥

भावार्थ.—किसी राजा की प्रशंसा में एक कवि कहता है—
हे राजन्, ग्रह्या यदि तोलने वाला हो, समस्त पृथ्वी यदि उस
तराजू का पलड़ा हो, शेषनाग यदि उस तराजू की डोरी हो,
सुमेरु पर्वत उस तराजू का बटखरा हो और भगवान् विष्णु की
गदा उस तराजू की डडी हो—तब भी आपके गुणों के समूह
को तोलना असंभव है ।

१८८

निजानपि गजान् भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती ।
गजेन्द्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः ॥

भावार्थ —राजा भोज की उदारता की प्रशंसा में एक कवि
कहता है—राजन्, अन्य हाथियों की तो बात ही क्या है, राजा
भोज को स्वयं अपने ही हाथियों को दान में देते देख कर
पार्वती जी अपने हाथों के मुख वाले पुत्र गणेश की रक्षा बड़े
ध्यान से कर रही हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि राजा भोज वही

उसे भी किसी याचक को न दे डालें । इसी भाव को लेकर पद्याकर ने नीचे दिया पद्य राजा रघुनाथ राव पेशवा की प्रशंसा में लिखा था—

सम्पत्ति सुमेर की कुवेर की जो पार्व कहूँ
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना ।
कहे पद्याकर सुद्धेम हाय हाथिन के
हलके हजारन को बितर विचारै ना ॥
गज गज बकस महीप रघुनाथ राउ
याही गज घोखे कहूँ तोहि देई डारै ना ।
यातैं गौरि गिरिजा गजानन को गोय रही
गिरि ते गरे ते निज गोद ते उतारै ना ॥

१८६

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकंतवात्तदा
विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥

भाषार्थ —नल के यश और प्रताप का वर्णन करते हुए महाकवि श्री हर्ष अपने नैपद्य-चरित में लिखते हैं—“नल के यश और प्रताप के रहते हुए, फिर सूर्य और चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है, उनका रहना व्यर्थ है, इनको मैंने व्यर्थ ही बनाया है”—इस प्रकार ब्रह्मा जी जब-जब अपने मन में सोचते हैं, तब-तब वे सूर्य के चारों ओर तथा चन्द्रमा के चारों ओर

एक परिधि या मण्डल रेखा खींच देते हैं। इसीलिए कभी सूर्य और कभी चन्द्रमा के चारों ओर एक परिधि या गोल रेखा खिंची हुई दिखाई देती है। ऐसा कभी-कभी ही होता है, क्योंकि ब्रह्मा के मन में जब-जब ऐसा विचार उठता है, तभी-तभी यह बात दिखाई देती है, सदा नहीं। प्राचीन परिपाटी के अनुसार जब भूल से कोई अक्षर अनावश्यक या व्यर्थ लिख दिया जाता था, तो लिखने वाला यह दिखाने के लिए कि यह व्यर्थ है, उस अक्षर के चारों ओर एक गोल रेखा खींच देता था। इसी प्रकार ब्रह्मा भी सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर गोल रेखा कभी-कभी खींच देते हैं।

कवि और काव्य

१६०

जपन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणाजं भयम् ॥

भावार्थः—नवो रस जिनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, ऐसे रसिक, सुकृति महाकवियों को जय हो, जिनका भौतिक शरीर तो नाश हो जाता है, पर यश रूपी शरीर सदा अजर और अमर बना रहता है। इसी भाव का एक उर्दू शेर भी है—
रहता सखुन से नाम क्यामत तलक है जौक ।
श्रीलाद से बस यही दो पुस्त चार पुस्त ॥

१६१

जानीते यन्न चन्द्राकौ जानन्ते यन्न योगिनः ।

जानाते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम् ॥

भावार्थः—जिसको सूर्य और चन्द्रमा भी नहीं जानते, जिस को योगी लोग भी नहीं जानते, जिसको स्वयं ब्रह्मा भी नहीं जानते, उसको कवि साक्षात् जान लेता है।

१६२

नान्घ्रीषयोधर इवातितरां निगूढो

नो गुर्जरीस्तन इवातितरां प्रकाशः ।

अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सोभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥

भाषार्थः—कविता का भाव न बहुत गूढ़ होना चाहिए और न बहुत प्रगट, इसी भाव को कवि ने इस श्लोक में बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट किया है—काव्य का अर्थ न तो आन्ध्र प्रवेश की स्त्रियो के पयोधर के समान, बिलकुल गूढ़ या छिपा हुआ होना चाहिए और न गुर्जर प्रदेश की स्त्रियो के स्तनो के समान, बिलकुल प्रगट ही होना चाहिए। चत्तिक महाराष्ट्र प्रदेश की स्त्रियो के कुचो के समान, कुछ गूढ़ और कुछ प्रकट होकर, कविता का अर्थ शोभा देता है। इसी भाव का एक दूसरा श्लोक भी नीचे देखिए।

१६३

कूर्पासकेनार्धतिरोहितो कुचो
रम्यो रमण्याः कविताक्षराणि च ।
अर्द्धं निगूढानि सुशोभितान्यलं
नात्यन्तगूढानि न वा स्फुटान्यपि ॥

भाषार्थ.—चोलो से ढके हुए वामिनी के कुच और कविता के अक्षर तभी शोभा देते हैं, जब वे कुछ छिपे और कुछ खुले रहते हैं। बिलकुल ढके अथवा बिलकुल खुले शोभा नहीं देते। इसी श्लोक का, हिन्दी के किसी कवि ने, अच्छा अनुवाद इस दोहे में किया है—

कवि आखर भरु तिय सुकुच, अघ उधरे सुख देत ।
अधिक ढकेहू सुखद नहि, उधरे महा अहेत ॥

१६४

सत्कविरसनाश्रुर्षोनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नोद्विजते का सुधा दासी ॥

भावार्थः—अच्छे कवियों की वाणी रूपी मूष से पछोड़े गए (चुन-चुन कर कविता में रखे गए) शब्द रूपी चावल के पाक (पुलाव) से जिनकी तृप्ति हो गई है, ऐसे रसिक पाठक दयिता (प्रियतमा) के अघर का भी आदर नहीं करते, फिर बेचारी सुधा (अमृत) की तो बात ही क्या है। अमृत भी सरस कविता के आगे हेच है।

१६५

कविता वनिता चैव स्वयमेवागता वरम् ।
बलादानीयमाना तु सरसा विरसा भवेत् ॥

भावार्थः—कविता तथा वनिता (स्त्री) स्वयं आ जाय, खीचा-तानी न करनी पड़े, तभी अच्छी है। और यदि बलपूर्वक जबर्दस्ती लायी जाए, चाहे वह कविता हो या वनिता, तो सरस भी होगी तो नीरस हो जाएगी। कविता वही अच्छी है जो स्वाभाविक और प्रसादगुण-विशिष्ट हो। बलपूर्वक शब्दों को जोड़-जाड़ कर बनायी गई कविता मन को हरने वाली नहीं होती।

१६६

तया कवितया किं वा तया वनितया च किम् ।
पदविन्यासमात्रेण यया नापहृत्यते मनः ॥

भावार्थ :—उस वनिता (कामिनी) से क्या जो अपने पद-विन्यास (अठखेली चाल) से ही देखने वालों का मन न हर ले। उसी प्रकार उस कविता से क्या जो पदविन्यास (शब्दों की रचना) मात्र से ही सुनने या पढ़ने वाले का मन न हर ले। “पद” शब्द में उत्तम श्लेष है। पद का अर्थ “चरण” तथा “शब्द” दोनों है।

१६७

कान् पृच्छामः सुराः स्वर्गे निवसामो वयं भुवि ।
किं वा काव्यरसः स्वादुः किं वा स्वादीयसो सुधा ॥

भावार्थ :—देवता लोग स्वर्ग में निवास करते हैं और हम पृथ्वी पर रहते हैं। फिर किससे पूछें कि काव्य का रस अधिक स्वादिष्ट है या अमृत अधिक स्वादिष्ट है ?

१६८

सुभाषितं हारि विशत्यधोगलान्न दुर्जनस्यार्करिपो
रिवामृतम् ।
तदेव धत्ते हृदयेन सज्जनो हरिर्महारत्नमिवातिनिर्मलम् ॥

भावायः—सुभाषित (सुन्दर काव्य) दुर्जन के गले के नीचे उसी तरह नहीं उतरता, जिस तरह कि समुद्र-मन्थन के बाद निकला हुआ अमृत राहु के गले के नीचे नहीं उतरा था। उसी सुभाषित को सुनकर सज्जन लोग इस प्रकार अपने हृदय में धारण कर लेते हैं, जिस प्रकार कि विष्णु भगवान् ने कौस्तुभ मणि को अपने हृदय पर धारण कर लिया था। जिस सुन्दर काव्य की प्रशंसा करने में दुष्टजन ईर्ष्या या द्वेष वश मौन रहते हैं, मानो उनको जोश पर लकवा लग गया हो, उसी की प्रशंसा रसिक सज्जन जी खोलकर करते हैं।

१६६

दुर्जेनहुताशदग्धं काव्यसुवरणं विशुद्धमुपयाति ।

दर्शयितव्यं तस्मान्मत्सरिमनसः प्रयत्नेन ॥

भावायः—काव्यरूपी सोना दुर्जन और ईर्ष्यालु समालोचकों की ईर्ष्यारूपी अग्नि से तपकर, और भी शुद्ध हो जाता है तथा चमकने लगता है। इसलिए अपने रचे हुए काव्य को प्रयत्नपूर्वक ईर्ष्यालु लोगों के समक्ष रसना चाहिए।

२००

अतिरमणीये काव्येऽपि पिशुनो दूषणमन्वेपयति ।

अतिरमणीये वपुषि अणमेव हि मक्षिकानिकरः ॥

भावार्थ—काव्य किनना ही सुन्दर क्यों न हो, किन्तु द्विद्वान्धेरी दुष्ट मनुष्य उसमें केवल दोष ही ढूँढ़ता है, जिसे

प्रकार कि शरीर कितना ही सुन्दर क्यों न हो, किन्तु मक्खियाँ वही बैठती हैं, जहाँ घाव होता है ।

२०१

स एव रसिको लोके श्रुत्वा काव्यं परैः कृतम् ।

उत्पद्यते च युगपद्वदनेऽङ्गोश्च यस्य “वाः” ॥

भावार्थ :—ससार में वही असली रसिक है, जो दूसरों के द्वारा रचे गए सुन्दर काव्य को सुनकर, आनन्द से विभोर हो उठे और सुनते ही जिसके मुख से “वाह” और आँखों से आनन्द के आँसू एक साथ निकल पड़े । “वा ” शब्द में श्लेष है—“वाः” माने “वाह” और “जल” दोनों हैं ।

२०२

हठावाकूटानां कतिपयपदानां रचयिता

जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्ययचसा ।

भवेदद्य इवो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ

घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ॥

भावार्थ :—बड़ी सोचातानी के बाद कुछ पद्यों की रचना करने वाला मनुष्य, यदि ऐसे नवियों के साथ बराबरी का दावा करे, जिनके सामने वाणी हमेशा हाथ जोड़े खड़ी रहती है, तो इस पापी पति पाल में सब कुछ सम्भव है । ऐसी होठ में, आज हो या कल, किसी दिन पढ़ो के बनाने वाला बुझकार भी तीनों लोकों के बनाने वाले ब्रह्मा की बराबरी का दावा कर सकता

है। क्योंकि निर्माण दोनों ही करते हैं। ब्रह्मा तीनो लोको की रचना करता है तो बया हुआ, कुंभकार भी तो घड़े का निर्माण करता है।

२०३

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पंचवाणस्तु वाणः
केषां नैया कथय कविता-कामिनी कौतुकाय ॥

भावार्थ —चोर नामक कवि जिसका केशभार है, मयूर कवि जिसका कर्णपूर (झरझर) हैं, भास कवि जिसकी मृदु मुस्कान है, कविकुलगुरु (कवियों में श्रेष्ठ) कालिदास जिसके विलास (हाव-भाव) है, श्रीहर्ष कवि जिसका हर्ष है, वाण कवि जिसके हृदय में बसने वाला कामदेव है—ऐसी कविता रूपी कामिनी बताओ, कौन ऐसा है जिसको आनन्द न देगी।

२०४

नैव व्याकरणज्ञमेति पितरं न भ्रातरं तार्किकं
दूरात्संकुचितेव गच्छति पुनश्चाण्डालवच्छान्दसम् ।
मीमांसानिपुणो नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा
काव्यालंकरणज्ञमेत्य कविताकान्ता वृणोते स्वयम् ॥

भावार्थ —कवितारूपी कामिनी व्याकरण (व्याकरण के

पण्डित) को पिता के समान समझकर, उसके पास आती ही नहीं, नैयायिक (न्याय के विद्वान्) को अपना भाई समझती है, उसके पास भो आने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, छान्दस (कोरेवेदपाठी विद्वान्) को चाण्डाल के समान दूर से ही बर्कती है, मीमांसक (मीमांसा शास्त्र के विद्वान्) को नर्पुंसक समझकर निरादर करती है, परन्तु काव्य के मर्मज्ञ, अलंकार शास्त्र के पण्डित को स्वयं आकर वरण करती है ।

२०५

सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुंचति ।

साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम् ॥

भावार्थ—‘सरस’ को यदि उलट दो तो ‘सरस’ ही बना रहता है, अपनी सरसता नहीं छोड़ता । परन्तु कोरे ‘साक्षर’ को, जिसमें रसिकता छू भी नहीं गयी है, यदि पलट दो तो वह केवल ‘राक्षस’ हो जाता है ।

कवियों की गर्वोक्ति

२०६

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमाः
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः ।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्त्रर्वाभाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम ॥

भावार्थः—इस पृथ्वीतल पर जो कवि और विद्वान् हैं, उनका हाल यह है कि जब किसी दूसरे कवि के काव्य की प्रशंसा का समय आता है तो मौन धारण कर लेते हैं, उनके मुख से किसी की प्रशंसा निकलती ही नहीं। जो धनी और राजा लोग हैं, उनकी आँखें लक्ष्मी के विलास की मदिगा पोने से मतवाली हो रही हैं, उनको कविता का आनन्द लेने और उसका रसास्वादन करने की योग्यता और फुर्सत ही कहाँ ? तब यताग्रो, स्वर्ग की अप्सराओं के अधर की मिठास को भी मात करने वाली मेरी वाणी (कविता) का विलास किसके मुख में नर्तन करेगा ? कौन मेरी कविता को कदर करेगा ? यह गर्वोक्ति पण्डितराज जगन्नाथ की है। इसका हिन्दी पद्यानुवाद एक कवि ने इस प्रकार किया हैः—

ऐसे भूमि मण्डल में पण्डित अनेक हैं जो ,
दूजे की प्रशंसा करिबे में दुख पावें महा ।

भूष हैं कितेक जाको लज्जिमी विलासवती,
मद्य के नशे तैं सदा दोऊ नैन घूमि रहा ।
हाय ! अब कौन धन्य जन है जगत बीच,
जाके मुख मन्दिर में करिहैं उत्रास जहाँ ।
काम अलसानी देवतानी की सुभाधुरी को,
नोच करि वानी मम करिहै विलास कहाँ ॥

२०७

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥

भावार्थः—कितनी ही सुन्दर स्त्री क्यों न हो, वह जिस प्रकार युवा के हृदय को अपनी ओर खींच लेती है, उसी प्रकार कुमारी (बालकी) के हृदय को आकर्षित नहीं करती । इसी तरह मेरी कविता । यदि सहृदय विद्वानों के हृदय में सुधा के समान आह्लाद उत्पन्न करती है, तो फिर नीरस पुरुष उसका अनादर भी करे, तो उससे क्या ? यह एक कवि की गर्वोक्ति है ।

२०८

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।

इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ॥

भावार्थ — अपनी बराबरी का कोई कवि इस समय नहीं है, जो हैं भी वे एकाघ कहो पड़े होंगे, इस भाव को प्रकट करती हुई यह पण्डितराज जगन्नाथ की गर्वोक्ति है — ऐसा सुना जाता है कि जिनके गण्डस्थल से मद बू रहा है, ऐसे मत-वाले दिग्गज हाथी दिशाग्रो के छोर में वही निवास करते हैं । रह गयो हयनिया, उनसे क्या बराबरी ? वे तो बरुणा की पात्र हैं । मृगो से भी क्या तुलना ? वे अपनी बराबरी के नहीं हैं । ऐसी दशा में बताओ, मृगराज सिंह इस समय ससार में अपने अन्तोखे और नोकीले नखों का पाण्डित्य (तीखापन) किस पर प्रकट करे ? इसका हिन्दी में पद्यानुवाद किसी कवि ने इस प्रकार किया है—

भाजि दिगन्त गये डरिकै वर धीर गयन्द सबै मतवारे,
धीन बड़ी हरणी परणी तिनको मुविलोकि दया उर धारे ।
“विप्रसुचन्द” भली उपमा तिनकी दिसरात नहो जगसारे,
तीखनता अपने नख को प्रगटावै कहा मृगराज विचारे ॥

२०६

निन्द्यन्ते यदि नाम मन्दमतिभिर्वक्राः कवीनां गिरः
स्तूपन्ते न च नीरसमृगदृशां वक्राः कटाक्षच्छटाः ।
तद्वदग्ययिदां सतामपि मनः किं नेहते वक्रतां
घत्ते किं न हरः विरोटशिखरे वक्रां कलामन्दबोम् ॥

भाषार्थः—यदि मन्दमति मूर्ख लोग वक्तियों की वक्र वाणी (ध्वन्यात्मक सरस अनोखे काव्य) को निन्दा करें अथवा नीरस (अरसिक) जन मुगनयनियों के वक्र (तिरछे) और अनोखे कटाक्षों को छुट्टा की प्रशंसा में बाह बाह न करें, तो इससे क्या ? परन्तु जो रसिक और गुणग्राही हैं, क्या उनका मन इस वक्रता (ध्वन्यात्मक काव्य) से मोहित नहीं होता ? क्या महादेव जी स्वयं वक्र (टेढ़े) चन्द्रमा की कसा की छपने शिर पर धारण नहीं करते ? “वक्र” शब्द में दलेप है—वक्र का अर्थ टेढ़ा और व्यङ्गपूर्ण (ध्वन्यात्मक) दोनों हैं ।

२१०

ये केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैव यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिविपुला च पृथ्वी ॥

भाषार्थः—यदि इस सगर में कोई ऐमे हैं, जो मेरी अवज्ञा करते हैं—मेरी कविता का धनादर करते हैं और मुझे तुच्छ समझते हैं, तो ये जान सें कि नाटक या कविता लिखने का मेरा यह प्रयास उनके लिए नहीं है । यह पृथ्वी यही विस्तृत है और पाल का भी कोई घोर-छोर नहीं है । वहीं न वही घोर वभी न वभी, तो मेरे समान दोल और स्वभाव वाला मनुष्य पैदा होगा और मेरी कदर करेगा । यह क्योंकि महाकवि भव-भूति को है ।

कामदेव की विचित्र महिमा

२११

स जयति संकल्पप्रभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बनभ्रमरः ।

यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकने वसतिः ॥

भावार्थः—उस कामदेव की जय हो, जिसका जन्म ही अद्भुत है अर्थात् जो ब्रह्मा के संकल्पमात्र से उत्पन्न हुआ है, जो रति के मुख-रूपी कमल का चुम्बन करने वाला भ्रमर है और जिसका निवासस्थान भी विलकुल अनोखा है, अर्थात् जो मद से मतवाली कामिनी स्त्रियों की तिरछी चितवन में निवास करता है ।

२१२

शंभुस्वयंभुहरयो हरिणोक्षणानां

येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।

वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय

तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥

भावार्थः—जिसने महादेव, ब्रह्मा और विष्णु को भी मृग-नयनियों के घर का निरन्तर दास बना दिया है और जिसके चरित्र की विचित्रता वाणी के वर्णन से परे हैं, उस भगवान्-कुसुमायुध कामदेव को नमस्कार है !

२१३

अवलानां दृशंवाशु यो निहन्ति बलीयसः ।

तस्मै कुसुमवाणाय नमो लोकोत्तरोजसे ॥

भावार्थः—“अवला” कही जाने वाली मृगनयनियों की एक तिरछी दृष्टि से ही, जो बड़े से बड़े बली लोगों को तत्काल मार सकता है, उस कुसुम-वाण, लोकोत्तर बलशाली, कामदेव को नमस्कार है !

२१४

प्रज्ञां विनाशयत्यादौ प्रविष्टो हृदि मन्मथः ।

दक्षो गेहं समायाति दीपं निर्वाण्य तत्स्करः ॥

भावार्थः—जब कामदेव किसी के हृदय में अपना घर करने लगता है, तो सबसे पहले उसकी बुद्धि को हर लेता है । ठीक है, चोर जब किसी के घर में घुसता है तो पहले उस घर के दीपक को बुझा देता है । इसी भाव का फारसी का एक शेर भी है—

इश्क चू दरसीना आमद अत्करा अब्रल रबूद ।
दुर्दे दाना वर कुनद अब्रल चिरागे खानेरा ॥

२१५

नासौ जयी जितो येन नक्रद्व्यालमुगाधिपाः ।

जितं तेनैव येनेह दान्तो मारस्त्रिकजित् ॥

भावार्थः—वास्तव में विजयी वह नहीं है, जिसने घड़ियाल,

सर्प अथवा सिंह को जीत लिया है । सच्चा विजेता तो वही है जिसने तीनों लोको को जीतने वाले कामदेव को अपने वश में कर लिया है । इसी भाव का उद्गार का एक शेर भी है—

नेहगो अजदहाग्रो शेरेनर मारा तो क्या मारा ।
बड़े मूजी को भारा नफ्से अम्भारा को गर मारा ॥

२१६

तावदेव कृतिना हृदि स्फुरत्येव निर्मलविवेकदीपकः ।
यावदेव न कुरंगचक्षुषां ताड्यते चपललोचनाचलः ॥

भावार्थ.—बड़े-बड़े गम्भीर, यशस्वी, विद्वानों के हृदय में निर्मल विवेक का दीपक तभी तक जलता रहता है, जबतक कि वह मृगनयनी स्त्रियों के चंचल नेत्र रूपी आँचल से बुझाया नहीं जाता ।

२१७

एकं वस्तु द्विधाकर्तुं बहवोऽन्येऽपि धन्विनः ।
तादृशः पुनरेकी यो द्वयोरैक्यविधायकः ॥

भावार्थ —ऐसे तो बहुत से धनुर्धारी हैं, जो एक के दो टुकड़े कर देते हैं । पर कामदेव रूपी कोई अनोखा धनुर्धारी है, जो दो (प्रियतम और प्रियतमा) को एक (प्रेम) में जोड़ देता है ।

२१८

अबला इत्यवज्ञेया न कदापि विवेकिभिः ।
अलोक्यं यद्दृशा दासः स्यात्तन्निबलता कुतः ॥

भावार्थः—विवेकी पुरुषों को स्त्रियों की अवज्ञा “प्रवला” समझकर कभी नहीं करनी चाहिए। अरे! जिन्होंने तीनों लोको को अपने कटाक्ष मात्र से अपना दास बना लिया है, वे “प्रवला” (बलहीन) कैसे कही जा सकती हैं ?

२१६

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
 प्रालेयसीकरमुचस्तुहिनांशुभासः ।
 यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
 निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः ॥

भावार्थः—फूलों का हार, जल से भीगा हुआ कपड़ा, कमल के पत्ते, हिम की वर्षा करने वाली शीतल चन्द्रमा की चान्दनी और सरस चन्दन जिसके ईन्धन है, वह कामदेव की अग्नि कैसे बुझ सकती है ? अन्य दूसरी अग्नि तो गीले ईन्धन से बुझ जाती है, पर कामदेव की आग विचित्र है, जो इन गीली और सरस चीजों से और भी प्रज्वलित होती है।

२२०

हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्नौ
 उचितमनुचितं वा वेत्ति नो पण्डितोऽपि ।
 किमु कुवलयनेत्राः ; सन्ति नो नाकनार्य-
 स्त्रिदशपतिरहल्यां, तापसोऽयः सिधेवे ॥

भावार्थः—जब हृदय रूपी फूस की ओपड़ी में कामदेव की

अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, तो क्या उचित है क्या अनुचित, यह बड़े से बड़े पण्डित भी नहीं समझ सकते । देखो, स्वर्ग में कमलनेत्र वाली सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें क्या नहीं थी, तब भी इन्द्र ने तपस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्या को नहीं छोड़ा ?

२२१

मत्तेभकुम्भदलने बहु सन्ति सूरः
केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

भावार्थः—न जाने कितने ऐसे महान् शूरवीर हैं, जो मतवाले हाथी के गण्डस्थल का दलन कर, उसको अपने वश में कर लेते हैं । बहुत से ऐसे भी हैं, जो प्रचण्ड मृगराज सिंह का भी वध करने में दक्ष हैं । किन्तु मैं बड़े-से-बड़े बली लोगों के सामने कहता हूँ, कि कामदेव के दर्पको चूर-चूर करने में समर्थ कोई विरले ही मनुष्य होते हैं ।

२२२

कृशः कारणः खंजः श्वरणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयविलन्नः कृमिकुलशतैराचिततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालावृतगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥

भावार्थः—गहा दुबला-पतला, काना, लूला, कान से बहरा,

पूछ भी जिसके नहीं है, घावों से जिसका शरीर भरा हुआ है, मवाद जिसमें से वह रहा है, कीड़े जिसमें बिलबिला रहे हैं, भूख से पीड़ित, महाजीर्ण, गले से जिसके घेघे लटक रहे हैं—ऐसा मृत्ता भी कुतिया के पीछे-पीछे लगा रहता है, यह कामदेव की ही कृपा है। कामदेव मरे हुए को भी मार रहा है। धन्य है कामदेव को !

२२३

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥

भाषार्थः—वासु भक्षण कर, जल पीकर तथा पत्ते प्रादि खाकर जीने वाले विश्वामित्र, पराशर प्रादि मुनि भी मुन्दर और मनोहर स्त्रियों के कमल के गमान मुग को देखकर मोहित हो गये, तो फिर उनका क्या करना जो निन्ध घो, दूध और दही से युक्त गामोत्तेज्य पदार्थों का भोजन करने हैं। यदि ऐसे गोग भी इन्द्रियों का दमन कर लें, तो फिर निन्द्य है कि विन्ध्य पर्वत भी समुद्र में तैर सकता है ।

२२४

मनः कुरोद्योगः सपदि यद मे गम्यपदवीं
नरे ता नार्था वा गमनमुभयप्राप्यनुचितम् ।

यतस्ते बलीवत्त्वं सकृदपि गतो हास्यपदवीं
जनस्तोमे मागास्त्वमनुसर हि ब्रह्मपदवीम् ॥

भाषार्थः—मन ! तुम्हारा क्या विचार है ? जरा बताओ तो, कहां चले ? किसी पुरुष के पास जाना चाहते हो या स्त्री के ? दोनों में से किसी के पास भी जाना तुम्हारे लिये अनुचित है, क्योंकि तुम नपुंसक हो और वहाँ तुम्हारी अवश्य हँसी होगी । इसलिए तुम मनुष्यों के पास न जाकर “ब्रह्म” के पास जाओ । क्योंकि तुम्हारा उसका जोड़ है । तुम भी नपुंसक लिंग हो और वह भी नपुंसक लिंग है । इस लिए तुम्हारी उसकी पट जायगी ।

२२५

हारोऽयं हरिणाक्षोणां लुठति स्तनमण्डले ।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिकराः ॥

भाषार्थः—यह श्लोक “अमर शतक” का है और अमर श्लेष का बहुत उत्तम उदाहरण है । इसमें “मुक्तानां” इस पद में श्लेष है, जिसका अर्थ “मोती” और “मोक्षपद-प्राप्त” दोनों हैं । श्लोक का भावार्थ यह है—मृगनयनियों के स्तनमण्डल पर यह मोतियों का हार लोट रहा है । जब निर्जीव “मोतियों” का अथवा जो “मोक्ष पद प्राप्त कर चुके हैं” ऐसे ऋषि-मुनियों का यह हाल है, तब हमारा क्या कहना, जो काम के दास हो रहे हैं !

निर्धन-गृहस्थ

२२६

वृद्धोऽन्धः पतिरेव मंचकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागम कुशसिनी घत्सस्य घाताऽपि नो ।
यत्नात्संचिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसा सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥

भावार्थ — इस दलोक में एक निर्धन, दरिद्र, कुटुम्ब का चित्र
खींचा गया है—पति वृद्ध, अन्या तथा रोगी होकर खाट से लग
रहा है। पर सब ओर से जोरों हो रहा है, बेचल एक ठूठ मात्र
बच गया है। बरसात भी भव भारभ होने ही वाली है। सड़का
परदेश गया हुआ है, उसका भी कोई कुशल-समाचार नहीं
मिला। बड़े यत्न से एक-एक बून्द परबे छोटी-सी हांड़ी में तेल
जमा किया था, हाय ! यह हांड़ी भी टूट गयी। सड़के की बहू
गर्भवती है, उसके बच्चा होने ही वाला है। यह दुर्दशा देखकर
पर की पुरखिन साम, भुसार धोड़ कर, बड़े जोर से रो
रही है।

२२७

यासःखण्डमिदं प्रयच्छ यदिवा स्वांके गृहाणार्भकं
रिक्तं भूतलमत्र नाथ भवतः पृष्ठे पत्तालोच्चयः ।

दम्पत्योरिति जल्पितं निशि यदा चौरः प्रविष्टस्तदा
लब्धं फर्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन्निर्गतः ॥

भावार्थः—सदियों में रात को एक चोर किसी निष्किचन दलित के घर में चोरी करने के लिए घुसा, तो उस समय घर के स्वामी और उसकी घरवाली के बीच यह बातचीत हो रही थी। घरवाली कह रही थी—“स्वामी, या तो जो वस्त्र का टुकड़ा तुम पहने हुए हो, उसे मुझे दे दो तो उस पर बच्चे को सुला दूँ, या बच्चे को तुम अपनी गोद में ले लो। यहाँ मेरे नीचे तो खाली जमीन है, बच्चे को किस पर सुलाऊँ ? तुम्हारी पीठ के नीचे तो पुआल भी है”—पति और पत्नी की इस बातचीत को सुनकर, रात के समय चोरी करने के लिए घुसा हुआ चोर इतना प्रभावित और द्रवित हुआ कि और जगह से चुराए हुए वस्त्र को उसके ऊपर डालकर, रोता हुआ वहाँ से चुपचाप लौट गया।

२२८

पङ्क्तौ बन्धस्त्वमसि न गृहं यासि योऽर्थो परेषां
धन्योऽन्ध त्वं धनमदवतां नेक्षसे यन्मुखानि ।
श्लाघ्यो मूक त्वमसि कूपरां स्तौषि नार्थाशया यः
स्तोतव्यस्त्वं बधिर न गिरं यः खलानां शृणोषि ॥

भावार्थः—कोई निर्धन मनुष्य कहता है—“हे लगडे मनुष्य, तुम धन्य हो कि पगुता के कारण तुम याचक होकर दूसरो के दरवाजे पर नहीं जाते। हे अन्धे मनुष्य, तुम भी धन्य हो कि

घन के मद में मतवाले धनियो के मुख को नहीं देख सकते । हे भूगे मनुष्य, तुम भी प्रशंसा के योग्य हो कि घन की आशा से, तुम वृषण धनी की स्तुति नहीं करते । हे वहीरे मनुष्य, तुम भी धन्य हो कि तुम्हारे कानों में नीच धनियो की दुत्कार नहीं सुनाई पड़ती ।”

२२६

वासश्चर्म विभूषणं शवशिरो भस्मांगलेपः सदा
ह्येको गोः स च लांगलाद्यकुशलः संपत्तिरेतादृशी ।
इत्यालोच्य विमुच्य शंकरमगाव्रत्नाकरं जाह्नवी
फण्टं निर्धनिकस्य जीवितमहो वारैरपि त्यज्यते ॥

भाषार्थः—निर्धन मनुष्य को, और तो और उसकी मगी स्त्री भी छोड़ देतो है, इस बात को कवि ने महादेव जी या उदाहरण देकर बड़ी मूखी से कहा है—महादेव जी के वस्त्र के नाम पर केवल मृगचर्म है, भूषण उनका और कुछ नहीं केवल मृत मनुष्य या कपाल है, भस्म ही उनके शरीर या अंगलेप (पाउडर) है, एक ही नान्दी बेल उनके पास है, सो भी खेती में लिये हल आदि में जोतने के साधक नहीं है ; इसलिए खेती भी नहीं कर सकते । वगैरह यही उनकी सम्पत्ति है—यह देखकर उनकी स्त्री गंगा जी उन्हें छोड़ कर, रत्नों के घाबर समुद्र के पाम चली गयी । सब है, निर्धनता बड़ी दुःखदायी होती है । निर्धन मनुष्य को उसी स्त्री भी छोड़ देती है, और की नो जान हो क्या है ?

तावत् विद्याऽनवद्या गुणगणगरिमा रूपसंपत्तिशीर्षं
स्वस्थाने सर्वशोभा परगुणकथने वाक्पटुस्तावदेव ।
यावत् पाकाकुलाभिः स्वगृहयुवतिभिः प्रेषितापत्यवक्त्राद्
हे बाबा नास्ति तैलं न च लवणमपीत्यादि वाचां प्रचारः ॥

भाषार्थः—तभी तक विद्या की प्रशंसा है, तभी तक गुणों
का महत्त्व है, तभी तक रूप, धन और धूरवीरता की बड़ाई है,
तभी तक अपने घर में अपनी पुछ और आदर है और तभी तक
दूसरे के गुणों का बखान करने में पटुता है, जब तक कि घर की
स्त्रियाँ लड़कों को भेजकर, नाक में दम नहीं कर देती कि “हे
बाबा, रसोई में न तो आज तेल है न नीन, अताओ खाना कैसे
पके ?”

उत्तिष्ठ क्षणमेकमुद्रह सखे दारिद्र्यभारं मम
श्रान्तस्तावदहं चिरान्मरणजं सेवे त्वदीयं सुखम् ।
इत्युक्तं धनवर्जितस्य वचनं श्रुत्वा श्मशाने शवो
दारिद्र्यचान्मरणं वरं वरमिति ज्ञात्वाैव तूष्णीं स्थितः ॥

भाषार्थः—एक निर्धन दरिद्र मनुष्य श्मशान में पड़े हुए
किसी मृत मनुष्य के शव को सम्बोधन करके कहता है—“हे
मित्र, दरिद्रता के भार को चिरकाल से ढोते-ढोते मैं बहुत थक
गया हूँ, थोड़ी देर के लिए जरा उठ जाओ और मेरे इस भार
को अपने सिर पर रख लो, जिसमें कि मृत्यु का जो सुख, तुम

भोग रहे हो, उसे मैं भी कुछ समय के लिये भोग लूँ"—निर्धन मनुष्य के इस वचन को सुनकर भी, मृत मनुष्य के शव ने अनसुनी कर दी और यह समझ कर कि निर्धनता की अपेक्षा मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है, वह बैसा हो चुपचाप पड़ा रहा, जरा भी न सनका ।

२३२

क्रोशन्तः शिशवः सवारि सदन पंकावृतं चांगणं
शय्या वंशवती च रुक्षमशनं धूमेन पूर्णं गृहम् ।
भार्या निष्ठुरभाषिणी प्रभुरपि क्रोधेन पूर्णः सदा
स्नानं शीतलवारिणा हि सततं धिग्धिग्गृहस्थाश्रम् ॥

भावार्थः—बच्चे रो और चीख रहे हैं, दूटा मकान वर्षों के कारण खू रहा है, आँगन में कीचड़ छाया हुआ है; दूटो खाट उसमें भी सौ मन खटमल भरे हुए हैं, रुखा-सूखा भोजन खाने को है; धुएँ से घर भरा हुआ है, स्त्री वकंशा और निष्ठुर भात बोलने वाली है, जिस मालिक के यहाँ नौकरी है वह भी सहानुभूति से रहित और सदा क्रोधा से भरा रहता है, जाड़े में ठंडे पानी से स्नान करना पड़ता है—यदि इसी को गृहस्थाश्रम कहते हैं, तो उसे पिक्कार है ।

२३३

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वितुलो जल्पको वा
घृष्टः पाश्वर्ध्वं यसति च सदा दूरतस्त्वप्रगल्भः ।

क्षान्त्या भोरुयदि न सहते प्रायशो नाभिजातः

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

भावार्थ — इस श्लोक में निर्धन सेवक का चित्र खींचा गया है—यदि सेवक चुप रहता है, बहुत बक-बक नहीं करता, तो मालिक समझता है कि वह गूगा है। यदि बोलने में चतुर है, तो यह समझा जाता है कि वह बहुत बक-बक करने वाला, वाचाल है। यदि पास रहता है तो कहा जाता है कि वह बहुत ढीठ, मुंह लगा है। यदि दूर रहता है तो कहते हैं कि वह होशियार नहीं है। यदि क्षमाशील है और सब महन कर लेता है तो यह समझा जाता है कि वह डरपोक है। यदि नहीं सहता और फुडमुड़ाता है, तो मालिक समझता है कि वह अच्छे कुल का नहीं है, दूसरे के साथ कैसे वरतना चाहिये उसको नहीं मालूम। इस प्रकार सेवा करना एक ऐसा गहन धर्म है कि जिसका पार योगी लोग भी नहीं पा सकते, तो साधारण मनुष्य की क्या बात है ?

२३४

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ।
शौर्षे वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥

भावार्थ :—इस श्लोक में किसी वृषण धनी का चित्र खींचा गया है—जाति रसातल को चली जाय तो चली जाय ,

कोई परवाह नहीं ! जितने भी गुण हैं वे सब पाताल से भी नीचे चले जाय, कोई चिन्ता नहीं ! शील और सदाचार पहाड़ पर से गिरे धीरे चक्काचूर हो जाय, हमे मजूर है ! कुटुम्ब का कुटुम्ब आग में जल मरे, स्वीकार है ! बोरता जो हमारी दाशु है, उस पर राम परे बज्र गिरे ! हमे तो केवल धन चाहिए, जिस एक के बिना ये सारे गुण निनके के समान है ।

२३५

हे दारिद्र्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः ।
पश्याम्यहं जगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन ॥

भाषार्थः—हे दरिद्रते ! मैं तुमको नमस्कार करता हूँ, क्योंकि मैं तुम्हारी कृपा से सिद्ध हो गया हूँ । सिद्धि मुझे यह मिल गयी है कि मैं सबको देखता हूँ, पर मुझे कोई नहीं देखता—मेरी ओर किमी की नजर भी नहीं जाता ।

२३६

दारिद्र्यं शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्पुपित्वा ।
विपन्नदेहे मयि मन्वभाग्ये ममेति चिन्ता यव गमिष्य-
सि त्वम् ॥

भाषार्थः—एक घमागा दरिद्र मनुष्य अपनी दरिद्रता को मन्दोषन करके कहता है—“हे दरिद्रते ! मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, चिन्ता तुम्हारे लिए है कि इतने दिनों तक मित्र की तरह मेरे शरीर में निवास करके, मुझ घमागे के मरने के बाद तुम कहाँ जाओगी ? ऐसा रहने का स्थान तुम्हें कहाँ मिलेगा ?

एकः स एव जीवति हृदयविहीनोऽपि सहृदयो राहुः ।
यः सकललघिमकारणमुदरं न विभक्तिं दुष्पूरम् ॥

भावार्थ — राहु के केवल गिर डै, पेट नहीं है। इस पर कवि कहता है—हृदय से रहित होने पर भी, सहृदय राहु केवल श्रवण-ऐसा जीव है, जो वास्तव में जीता है। क्योंकि उसे उस पेट को नहीं भरना पड़ता, जिस पेट के कारण मनुष्य को कितना अपमान और कितना अनादर सहना पड़ता है और तब भी वह कितनी कठिनाई से भरा जाता है।

इयमुदरवरी वुरन्तपूरा यदि न भवेदभिमान-

भंगभूमिः ।

क्षणमपि न सहे भवादृशानां कुटिलकटाक्षनिरीक्षणं

नृपाणाम् ॥

भावार्थ — कोई निर्धन कवि किसी राजा या धनी से कहता है—सारे स्वाभिमान की जड़ को उखाड़ कर फेंक देने वाला और मान का मर्दन करने वाला, यह पेट रूपी गड्ढा, जिसका पाटना असंभव है, यदि मेरे न होता तो क्या मेरे आप-जैसे राजाओं और श्रीमन्तों के नेत्रों के कुटिल कटाक्ष को कभी सहन करता ?

२३६

नदीनदीनभावस्य याचकस्यातिमानिनः ।

वचोजीवितयोरासीत् पुरो निःसरणो रणः ॥

भाषार्थः—कोई आत्माभिमानो दीन मनुष्य किसी घनी के पास कुछ माँगने के लिए गया। उसने कभी पहले किसी से माँगा नहीं था। माँगने के लिए चला तो गया, पर माँगने का साहस न हुआ, चुप खड़ा रहा, मुख से दीनता के शब्द नहीं निकले। इस पर कवि की कल्पना है कि उसके वचन और प्राण में द्वन्द्व युद्ध ठन गया कि पहले कौन निकले—वचन या प्राण। वस इसी द्वन्द्व में वह चुप रह गया। किसी से माँगने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है, इस बात को कवि ने कैसे अनोखे ढंग से कहा है।

२४०

तृणदपि सधुस्तूलस्तूलादपि हि याचकः ।

वायुना किं न नीतोऽसौ प्रार्थयिष्यति मामिति ॥

भाषार्थः—तिनके से भी हलकी रई है और रई से भी हलका याचक (माँगने वाला) है। परन्तु यदि इतना हलका है, तो फिर हवा उसको क्यों नहीं अपने साथ उड़ा ले जाती? इस लिए कि हवा भी डरती है कि कहीं मुझसे भी कुछ माँग न ले।

२४१

याचना हि पुरुषस्य महत्त्वं

नाशयत्यखिलमेव तथा हि ।

सद्य एव भगवानपि विष्णु
वामनो भवति याचितुमिच्छन् ॥

भावार्थः—माँगने से मनुष्य की सब प्रतिष्ठा भग हो जाती है, यह भगवान् विष्णु के उदाहरण से भी प्रगट है। देखो भगवान् विष्णु ने राजा बलि से माँगना चाहा, तो उनको भी छोटा (बौना) होना पडा। माँगने से हरेक को छोटा होना पडता है। इसी भाव का रहीम का यह दोहा भी है—

रहिमन याचकता गहे, बडो छोट ह्व जात।
नारायण हू को भयो, बामन आगुर गात ॥

२४२

यदि रामा यदि च रमा यदि तनय विनयगुणोपेतः ।
यदि तनये तनयोत्पत्तिः सुरवरनगरे किमाधिक्यम् ॥

भावार्थः—इस श्लोक में सब प्रकार से सफल सन्तुष्ट गृहस्थ का चित्र खींचा है—यदि सुशीला पतिपरायणा पत्नी हो, उस पर लक्ष्मी भी हो, उस पर नम्र, आज्ञाकारी और विनयी पुत्र हो, उस पर पुत्र के पुत्र (पोता) हो जाय, तो बताओ स्वर्ग में क्या इससे कुछ अधिक मुख रखता है ?

२४३

कालिदास-कविता नवं वयोमाहिषं दधि सशकरं पयः ।
शारदेन्दुवदना विलासिनी प्राप्यते सुकृतिनैव भूतले ॥

भावार्थ:—कालिदास की कविता पढ़ने को मिले, नई जवानी हो, भैंस के दूध की दही खाने को और चीनी मिला हुआ दूध पीने को मिले, शरत्काल के पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख वाली सुन्दर पत्नी हो—यह सब सुख ससार में केवल सुकृती भाग्यवान् मनुष्य को ही मिलता है ।

सज्जन और दुर्जन

२४४

हृदयानि सतामेव कठिनानोति मे मतिः ।

खलवाग्विशिखैस्तीक्ष्णैर्भिद्यन्ते न मनाग्यतः ॥

भाषार्थः—लोग कहते हैं, कि खलो का हृदय कठोर होता है । पर मेरा तो ऐसा विचार है कि खलो का हृदय नहीं, बल्कि सज्जनो का हृदय कठोर होता है । यदि सज्जनो का हृदय कठोर न होता, तो वह खलो के यपन वाणो से छिन्न क्यों नहीं जाता । छिदना तो दूर रहा उसमें रेखा-भात्र भी नहीं लगती । इस श्लोक का भाव कुछ-कुछ तुलसीदास के इस दोहे से मिलता है—

दुर्जन-वदन कमान सम, वचन विमुंचत सीर ।

सज्जन उर वेधत नही, क्षमा-सनाह शरीर ॥

२४५

लोको मद्युगजन्मा कृतकृतकर्मा न मद्धर्मा ।

इति हेतोरिव कलिना बलिना संपोड्यते साधु ॥

भाषार्थः—इस कलि काल में सज्जन क्यों दुःख पाते हैं इस का कारण किसी ने अच्छा दिया है—“सज्जन लोग पैदा तो हुए हैं मेरे युग में और काम करते हैं सत्ययुग का । मेरे युग के अनुसार

आचरण नहीं करते”—वस इसी कारण क्रोध में आकर महाबली कलि साधु पुरुषों को सदा सताया करता है ।

२४६

अमरैरमृतं न पीतमन्धेनं न च हलाहलमुल्बणं हरेण ।
विधिना निहितं खलस्य वाचि द्वयमेतद्वहिरेक-
मन्तरन्यत् ॥

भावार्थः—ऐसा कहा जाता है कि समुद्र-मन्थन से निकला कृष्ण अमृत देवताओं ने और भयकर हलाहल (विष) भगवान् शिव ने पी लिया था । परन्तु यह ठीक नहीं है । असली बात तो यह है कि ब्रह्मा ने दोनों में से एक अर्थात् अमृत को तो दुर्जन की वाणी में रख दिया और हलाहल को उनके हृदय में रख दिया । इसी से तो वे ऊपर से मोठी-मोठी बिकनी-बुपड़ी बातें कहते हैं, पर हृदय में उनके विष भरा रहता है ।

२४७

नन्वाश्रयस्वित्तिरियं तव कालकूट
केनेत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागण्यस्य हृदये कृपसस्मरणोऽय
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥

भावार्थः—सत्त्व के वाग्वाणी से मनाया गया कोई यदि कालकूट विष को सम्बोधन करके कहता है—हे कालकूट, एक दूसरे के उपरान्त उत्तम से उत्तम अपना आश्रय स्थान चुनने की

शिक्षा तुमने किस से पायी है ? पहले तुम खारे समुद्र के भीतर रहे, फिर नीलकण्ठ महादेव के कण्ठ में बसने लगे और अब तुम खलो की वाणी में निवास करते हो । तुम्हारी अद्भुत माया है ।

२४८

अहमेव गुरुः सुदारणानां
इति हलाहल तात मास्मदृष्यः ।
ननु सन्ति भवावृशानि भूयो
भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥

भावार्थः—हे हलाहल (विष), मत घमण्ड करो कि मैं ही जितने कटु और पीडा देने वाले पदार्थ दुनिया में हैं, उन सबों में श्रेष्ठ हूँ, मेरे बराबर कोई नहीं है । अरे ! तुम्हें नहीं मालूम कि तेरे समान इस ससार में दुर्जनों के वचन भी हैं, जिनके लगते ही मनुष्य एक बार प्राण रहने भी निष्प्राण हो जाता है । इसी भाव का एक उद्गार भी है—

छुरी का तोर का तलवार का तो धाव भरा ।
लगा जो जटम जुवा का रहा हमेशा हरा ॥

२४९

परदारपरद्रव्यपरद्रोह - पराङ्मुख ।

गंगा झूते कदागत्य भामयं पावयिष्यति ॥

। भावार्थः—जो दूसरे की स्त्री, दूसरे के धन और दूसरे के

द्रोह से विमुख रहता है, उनकी ओर ताकता भी नहीं—ऐसे
 १ मनुष्य के बारे में स्वयं पतित-पावनी गंगा जी भी कहती हैं कि
 वह कब आयेगा, मेरे में स्नान करेगा और मुझे पवित्र करेगा ।

२५०

विकृतिं नैव गच्छन्ति संगदोषेण साधवः ।
 प्रवेष्टितं महासर्पैश्चन्दनं न विषायते ॥

भावार्थः—सज्जन लोग दुर्जनो के साथ से अपनी स्वा-
 भाविक उत्तम प्रकृति को नहीं छोड़ते । देखो, चन्दन के वृक्ष पर
 कितने ही सर्प बंधे न लिपटे रहे, किन्तु उस पर विष का जरा
 भी प्रभाव नहीं पड़ता । इसी श्लोक के भाव को लेकर ही रहीम
 का यह दोहा है—

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकन कुसंग ।
 चन्दन विष व्यापे नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥

२५१

दुर्वृत्तसंगतिरनर्थपरंपरायाः
 हेतुः सतां भवति किं वचनीयमत्र ।
 लंकेश्वरो हरति दाशरथे कलत्रं
 प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराजः ॥

भावार्थः—दुर्जन और दुराचारी का साथ करने से सज्जनों
 को कितना अनर्थ और कितनी विपत्ति सहनी पड़ती है—यह

एके सर्व-प्रसिद्ध बात है। देखो, राम की स्त्री को हरा तो लंकाधिपति रावण ने, पर बन्धना पड़ा समुद्र को, जो रावण के पद्मोस में बसता था। प्रसिद्ध है कि लंका तक पहुँचने के लिए, राम को समुद्र पर पुल बांधना पड़ा था। इसी श्लोक के भाव को रहीम ने अपने पद्य में इस प्रकार प्रकट किया है—

करि कुसंग चाहत कुसल, यह रहीम जिय सोस ।
महिमा घटी समुद्र की, रावन बसो परोस ॥

२५२

शरदि न वर्षति, गर्जति वर्षति वर्षसि निःस्वनो मेघः ।
नीचो बवति न कुरुते, न बवति सुजनः करोत्येव ॥

भावार्थः—शरत्काल में मेघ गर्जते खूब हैं, पर बरसते एक वृन्द भी नहीं। वर्षा काल में मेघ गर्जते कम हैं, पर बरसते अधिक हैं। इसी प्रकार नीच लोग कहते बहुत हैं, पर करते कुछ भी नहीं। परन्तु अच्छे, सज्जन लोग बोलते कम हैं, जो कुछ करना होता है, कर देते हैं।

२५३

बोधितोऽपि बहुसूचितविस्तरैः
किं खलो जगति सज्जनो भवेत् ।
स्नापितोऽपि बहुशो नदीजलै-
र्गर्दभः किमु ह्यो भवेत्क्वचित् ॥

भावार्थः—बहुत-सी सुन्दर और उपदेशमयी वाणी से

समझाया गया दुर्जन, ससार में क्या सज्जन हो सकता है ?
 गुगा-जैसी पवित्र नदी के पानी से बार-बार नहलाया गया गर्दभ,
 कभी घोड़ा हो सकता है क्या ?

२५४

परवादे दशवदनः पररन्ध्रनिरीक्षणो सहस्राक्षः ।

सद्वृत्तवित्तहरणो बाहुसहस्रार्जुनः पिशुनः ॥

भावार्थः—नीच, दुर्जन मनुष्य दूसरे की निन्दा करने में
 दशमुख वाला रावण हो जाता है, दूसरे का छिद्र देखने में
 सहस्र-नेत्र वाला इन्द्र हो जाता है और दूसरे के चरित्ररूपी
 धन को हरने में सहस्रबाहु अर्जुन हो जाता है ।

२५५

दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।

उष्णो दहति चांगारः शीतः कूष्णायते करम् ॥

भावार्थः—दुर्जन के साथ मित्रता अथवा प्रीति नहीं करनी
 चाहिए । दुर्जन अंगार के समान होता है, जो उष्ण (गरम)
 होने पर जला देता है और शीतल (ठण्डा) होने पर हाथ को
 काला कर देता है । रहीम ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया
 है—

छोटे को सग साथ, हे मन तजो अंगार ज्यो ।

ताको जारे हाथ, शीतलहू कारो करं ॥

दृश्यन्ते भुवि भूरिनिम्बतरवः कुत्रापि ते चन्दनाः
पापाणैः परिपूरिता वसुमती वज्रो मणिर्दुर्लभः ।
श्रूयन्ते करटारवाश्च सत्ततं चैत्रे कुहूकूजितं
तन्मन्ये खलसंकुलं जगदिदं द्वित्राः क्षितौ सज्जनाः ॥

भावार्थः—संसार मे नीम के पेड़ तो बहुत से दिखाई पड़ते हैं, परन्तु चन्दन के पेड़ तो कहीं-कहीं ही पाए जाते हैं । पृथ्वी पत्थरो से भरी हुई है, परन्तु बहुमूल्य पत्थर हीरा आदि तो कठिनाई से मिलते हैं । कोवो की काँव-काँव तो सदा सुनाई पड़ती है, परन्तु कोयल की कूक तो केवल चैत में ही सुनने को मिलती है । इसी प्रकार संसार दुर्जनों से भरा पड़ा है, परन्तु सज्जन तो पृथ्वी में दो-चार ही कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हैं ।

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धं
क्षिन्नक्षिन्नः पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुदण्डः ।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः कांचनं कान्तवरं
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम् ॥

भावार्थः—चन्दन बार-बार घिसे जाने पर भी, अपनी सुगन्ध नहीं छोड़ता । गन्ना बार-बार चूसे जाने पर भी, अपनी मिठास नहीं त्यागता । सोना बार-बार तपाये जाने पर भी, अपनी सुन्दर

चमक को नहीं तजता । सच है, उत्तमपुरुष प्राणों के जाने पर भी, अपना उत्तम स्वभाव नहीं छोड़ते ।

२५८

कस्यादेशात्क्षयति तमः सप्तसप्तिः प्रजानां
 छायाहेतोः पथि विटपिनामंजलिः केन बद्धः ।
 अभ्यर्ष्यन्ते जल्लवमुचः केन वा वृष्टिहेतो-
 र्जात्यैद्यंते परहितविधौ साधवो बद्धकक्ष्याः ॥

भाषार्थः—सूर्य जिसके आदेश से लोगो के लिए उदय हो कर, अन्धकार का नाश करता है ? कौन पथिको को छाया देने के लिए, पेड़ो से हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है ? कौन वर्षा देने के लिए, मेघो से याचना करता है । यह वे स्वयं करते हैं । क्योंकि सज्जनो का स्वभाव ही परोपकार करना है और उस के लिए वे सदा यत्नरत रहते हैं ।

२५९

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे
 प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति बह्लिः ।
 विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां
 न भवति पुनरुत्तं भाषितं सज्जनानाम् ॥

भाषार्थः—सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हो सकता है, मेरु

पर्वत अपने स्थान से हट सकता है, अग्नि अपना स्वभाव छोड़ कर शीतत्व ग्रहण कर सकती है, कमल पर्वत की शिला पर खिल सकता है—किन्तु सज्जन लोग अपनी बात से नहीं डिगते। जो वे एक बार कह देते हैं, वह पत्थर की लकीर बन जाता है।

पौरुष और भाग्य

२६०

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥

भाषार्थः—जिस प्रकार रथ के दो पहिए होते हैं, वह केवल एक पहिए से नहीं चलता । उसी प्रकार सफलता के लिए पौरुष और भाग्य दोनों आवश्यक होते हैं, विना पौरुष के भाग्य कभी सिद्ध नहीं होता ।

२६१

दैवं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् ।
समुद्रमथनात्लेभे हरितंक्ष्मो हरो विषम् ॥

भाषार्थः—भाग्य ही सर्वत्र फल देता है, विद्या और पौरुष नहीं । देखो, यह भाग्य वा ही खेल था कि समुद्रमन्थन से एक और विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त हुई और दूसरी ओर महादेव के पल्ले केवल विष ही पड़ा ।

२६२

भाग्यवन्तं प्रसूयेथा मा दूरं मा च पण्डितम् ।
दूराश्च कृतविद्याश्च घने सीदन्ति पाण्डवाः ॥

भावार्थः—कोई किसी स्त्री को आशीर्वाद देता है कि तू भाग्यवान् पुत्र को पैदा कर, शूरवीर और पण्डित को नहीं। देखो, पाण्डव लोग कितने शूरवीर और कितने विद्वान् थे, पर भाग्य ने साथ नहीं दिया, इसलिए वनवास में तरह-तरह के दुख भेलते रहे।

२६३

एकः स एव तेजस्वी संहिकेयोऽसुरद्विषाम् ।
शिरामात्रावशेषेण जीयन्ते येन शत्रवः ॥

भावार्थः—दैत्यो में राहु अकेला ही ऐसा तेजस्वी पौरुषवान् है, जो अपने पौरुष के बल पर, केवल शिरमात्र शेष रहने पर भी, अपने शत्रुओं को जीतता रहता है और देवताओं के दान्त खट्टे करता रहता है।

२६४

अंगरावेदो वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम् ।
बल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य धीरस्य ॥

भावार्थः—जो धीरज को नहीं छोड़ता और अपने दृढ़ निश्चय पर डटा रहता है, उसके लिए विस्तृत पृथ्वी घर के आगन के समान, अपार सागर छोटी-सी नदी के समान और पाताल स्थली के समान हो जाता है। वह बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहज में पार कर लेता है।

२६५

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥

भाषार्थः—सिंह बच्चा भी हो, तो भी मद के खूने से जिनके गण्डस्थल मलिन हो गये हैं, ऐसे मतवाले हाथियों पर आक्रमण कर, उन्हें पट्टाड देता है। पराक्रमी लोगो का यह स्वभाव होता है। तेज और पराक्रम के लिए आयु कारण नहीं है।

२६६

भक्तो यस्य धनेशः सिद्धे ऋद्धेश्वर्यत्सुतोऽधिपतिः ।
तस्य कुमारोऽनूढः स्वयं च नग्नो नमो विधये ॥

भाषार्थः—जिन महादेव जी के भक्त धन के स्वामी साक्षात् पुत्र हैं, जिनके एक पुत्र गणेश जी ऋद्धि और सिद्धि दोनों के अधिपति हैं—उन्हीं महादेव जी का एक पुत्र स्यामि-यातिवेय सदा के लिए कुंवारा रह गया और स्वयं महादेव जी भी नग्न रहे, लगोटी भी पास नहीं थी—यह केवल भाग्य का ही खेल है। भक्तएव भाग्य को नमस्कार है !

२६७

भूमिष्ठं द्रविणात्मजं जनयितुं लिप्साघता चेतसा
नार्यः पंच मया क्रमेण कुलजाः फाले समुद्राहिताः ।

सद्विद्या कविता विदेशवसतिः सेवा तथाऽभ्यर्थना
दैवेन प्रतिबन्धकेन युगपद्वन्ध्याः समस्ताः कृताः ॥

भावायः—इस लालसा से कि मेरे धनरूपी पुत्र उत्पन्न हो, मैंने एक के बाद दूसरी, इस क्रम से पाँच कुलीन स्त्रियों के साथ विवाह किया, जो ये हैं—एक विद्या, दूसरी कविता, तीसरी विदेश में वसति (निवास), चौथी सेवा और पाँचवी धनिकों के सामने प्रार्थना (हाथ फेलाना)। परन्तु दैव का दुर्विपाक तो देखो—ये पाँचों ही बन्ध्या निकली और इनमें से एक ने भी धनरूपी पुत्र मुझे नहीं दिया। मेरी विद्या, कविता, विदेश में दर-दर फिरना, सेवा और धनियों की चापलूमी, सब बेकार हुई।

२६८

अवश्यं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।

नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥

भावार्थः—भाग्य में जो बड़ा होता है, वह बड़े से बड़े लोगों को भी मिलता है। देखो, महादेव जो के भाग्य में नंगा होना बड़ा था, सो इतने बड़े देवता होकर भी उन्हें नंगा रहना पड़ा और विष्णु भगवान् के भाग्य में महा विपत्ति सर्प पर सोना लिखा था, सो उनको शेषनाग पर ही शयन करना पड़ा। भाग्य का विचित्र खेल है !

२६६

स्वयं महेशः श्वशुरो नगेशः सखा धनेशस्तनयो गणेशः ।
तथापि भिक्षाटनमेव शंभोर्वलीयसो केवलमीश्वरेच्छा ॥

भावार्थः—महादेव जो स्वयं महेश (बड़ो के भी बड़े) हैं, उनके समुर नगेश (पर्वतो के राजा हिमालय) है, उनके मित्र धनेश (धन के मालिक कुबेर) हैं, उनके पुत्र गणेश के ईश "गणेश" जो है—इतने पर भी उनको भीख माँग कर अपना गुजारा करना पड़ा, यह बेचल विधि की विडम्बना के सिवा और क्या कहा जाय ?

२७०

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दो शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रापवां भाजनम् ॥

भावार्थः—कोई गंजा मनुष्य दोपहर की गर्मी में मूर्य की सरतर किरणों से सताया हुआ, छाया की खोज में, दुर्भाग्य से एक ताड़ के पेड़ के नीचे गया कि वहाँ कुछ देर धरण लेकर, अपनी सोपड़ी को घास में तपने से बचाऊँगा । परन्तु जैसे ही वहाँ पहुँचा कि एक बड़ा ताड़ का फल उसके सिर पर पड़ाम से घाबर गिरा और उसकी गजी सोपड़ी धूर-धूर हो गयी ।

सच है, अभागा मनुष्य जहाँ जाना है, वहाँ विपत्ति सच्चे साथी की तरह उसका साथ नहीं छोड़ती ।

२७१

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोल्लूकेन विलोक्यते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यद्वात्रा निजभालपट्टलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥

भावार्थ.—वसन्त के प्रागमन पर भी, यदि करीर के वृक्ष में पत्ते न आँवें, तो इसमें वसन्त का क्या दोष है ? सूर्योदय होने पर भी, यदि दिन में उल्लू को दिखाई न पड़े, तो इसमें सूर्य का क्या दोष है ? वर्षा होने पर भी, यदि चातक के मुख में एक बून्द भी न टपके, तो इसमें मेघ का क्या दोष है ? बात यह है कि विधाता ने किसी के भाग्य में जो लिख दिया है, उसको कोई ढाल नहीं सकता । भाग्य का लेख अमिट है ।

२७२

सदसि विदुरभीष्मद्रोणशारद्वतानां
पतिभिरमरकल्पैः पंचभिः पालितापि ।
अहह परिभवस्य द्रौपदी पात्रमासीद्
वलवति सति देवे बन्धुभिः किं विधेयम् ॥

भावार्थ —जिस सभा में विदुर, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य,

कृपाचार्य जैसे न्यायपरायण, धर्मिष्ठ बैठे थे, उसी सभा में देव-
ताओं के तुल्य पाँच पति जिसके पालक और रक्षक थे, ऐसी
द्रौपदी का कितना घोर अपमान हुआ यह सर्व-विदित है। सच
है, जब विधि विपरीत होता है, तो बन्धु और मित्र भी कुछ
नहीं कर सकते।

२७३

ऐसा कहते हैं कि एक बार महाराज भोज के दरबार में,
चार कवि धन की लालसा से गये। भोज में चारों को एक
समस्या पूर्ति के लिए दी और कहा कि जिसकी समस्या-पूर्ति
सर्वोत्तम होगी, उसी को एक लाख रुपया इनाम के तौर पर दिया
जायगा। समस्या यह थी—“क्रिया-सिद्धि सत्त्वे वसति महता
नोपकरणे”

(१) उगमे से एक ने समस्या की पूर्ति इस प्रकार की—

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधि-
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भावार्थ —एक तो समुद्र के पार जाकर लंका को जीतना
था, दूसरे समुद्र को पार करने के लिए कोई पुल भी नहीं था,
केवल पैर से ही उसे पार करना था। वहाँ रावण-जैसा
शूरवीर और बली शत्रु था, जिससे युद्ध करना था और युद्ध में
सहायक केवल बन्दर लोग थे। तथापि इन सब कठिनाइयों के

२७५

(३) तीसरे कवि ने समस्या की पूर्ति अगस्त्य मुनि का उदाहरण देकर की—

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनं
 वने वासः कन्दाशनमपि च दुःस्थं वपुरिदम् ।
 तथाप्येकोऽगस्त्यः सकलमपिवद्वारिधिजलं
 क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणो ॥

भावार्थः—अगस्त्य ऋषि पैदा हुए थे घड़े में, कोई ऊँचे कुल के भी नहीं थे । मृग उनके परिजन थे । भोजपत्र उनका वसन था । वन में उनका निवास था । कन्द मूल उनका आहार था । ऐसे सकट में पला उनका दुर्बल शरीर था । तथापि वह अकेले सारे समुद्र का जल पी गये । इससे सिद्ध होता है कि महान् पुरुषों के कार्यों की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, बरन अपने आन्तरिक बल और पौरुष पर अवलम्बित होती है ।

२७६

(४) चौथे कवि ने कामदेव का उदाहरण देकर समस्या पूर्ति की—

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां
 दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः ।
 तथाप्येकोऽनंगस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
 क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणो ॥

भावार्थः—कामदेव को देखो । उसका धनुष पुष्पों का हुआ है । उस धनुष की प्रत्यक्षा भ्रमरों की है । उसके चंचल नेत्र वाली कामिनियों के कटाक्ष है । उसका मित्र सहयोगी जड़ात्मा चन्द्रमा है । फिर भी वह अंगहीन, कामदेव तीनों लोकों को व्याकुल किये रहता है । तो सिद्ध हुआ कि बड़े और महान् पुरुषों के कार्य की सफलता बाहरी साधनों पर नहीं, बरन उनके साहस और पौरुष पर आधारित होती है ।

नीति के वाक्य

२७७ .

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव भवो मे व्यपगतः ॥

भाषार्थः—जब मैंने थोड़ा जाना, तो मतवाले हाथी की तरह मदान्ध हो कर, यह समझने लगा कि मैं सर्वज्ञ हूँ और मेरा मन अभिमान से भरकर मदमत्त हो गया । परन्तु आगे चलकर, जब मैं बुधजनों से थोड़ा-थोड़ा जानने लगा और अपनी मूर्खता का वास्तविक ज्ञान मुझे हुआ, सब मैंने समझा कि मैं तो मर्हामूर्ख हूँ और मेरा अभिमान उसी तरह उतर गया जिस तरह कि ज्वर से पीड़ित मनुष्य का ज्वर उपचार से उतर जाता है । इसी भाव का एक उर्दू शेर भी है—

मैंने जाना था कि इल्म से कुछ जानेंगे ।

जाना तो यह जाना कि न जाना कुछ भी ।

एक अंग्रेजी कविता भी इसी भाव की है—

A little learning is a dangerous thing ;
Drink deep or taste not the Pierian spring ;
Their shallow draughts intoxicate the brain,

होते हुए भी, अकेले राम ने अपने पौरुष के बल पर, सम्पूर्ण राक्षस-कुल का विनाश किया। इससे सिद्ध हुआ कि महान् पुरुषों की क्रिया की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, बरन उनके अपने निजी पौरुष पर निर्भर होती है।

२७४

(२) दूसरे कवि ने समस्या की पूर्ति इस प्रकार की—

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः
निरालबो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि ।
रविर्गच्छत्यन्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भावार्थः—सूर्य ऐसे रथ पर सवार है, जो केवल एक पहिये पर चलता है। उसमें सात घोड़े जुते हुए हैं और उन घोड़ों को काबू में रखने के लिए जो तगाम है, वह भयानक विपैले सर्पों की बनी हुई है। रथ भी जिस मार्ग पर चलता है, वह शून्य आकाश में है, जिसका कोई अवलम्ब नहीं है। अरुण जो उसका सारथि है, वह बिना चरण के है। तो भी, इन सब कठिनाइयों के होते हुए, सूर्य प्रतिदिन अनन्त आकाश के इस पार से उस पार तक चक्कर लगाता रहता है। तो सिद्ध हुआ कि महान् पुरुषों के कार्य की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, बल्कि उनके अपने आन्तरिक साहस और बल पर निर्भर होती है।

२७५

(३) तीसरे कवि ने समस्या की पूर्ति भगस्थ मुनि का उदाहरण देकर की—

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भुज्वसनं
 बने वासः कन्दाशनमपि च दुःस्थं वपुरिदम् ।
 तथाप्येकोऽङ्गस्त्यः सकलमपिवद्वारिधिजलं
 क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भावार्थः—भगस्थ ऋषि पैदा हुए थे घड़े में, कोई ऊँचे कुल के भी नहीं थे । मृग उनके परिजन थे । भोजपत्र उनका वसन था । वन में उनका निवास था । कन्द मूल उनका आहार था । ऐसे संकट में पला उनका दुर्बल शरीर था । तथापि वह भकेले सारे समुद्र का जल पी गये । इससे सिद्ध होता है कि महान् पुण्यों के कार्यों की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, बरन अपने आन्तरिक बल और पौरुष पर अवलम्बित होती है ।

२७६

(४) चौथे कवि ने कामदेव का उदाहरण देकर समस्या पूर्ति की—

धनुः पीप्यं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां
 दृशां कीर्णो बाणः सुहृदपि जङ्गात्मा हिमकरः ।
 तथाप्येकोऽङ्गस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
 क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

होते हुए भी, अकेले राम ने अपने पौरुष के बल पर, सम्पूर्ण राक्षस-कुल का विनाश किया। इससे सिद्ध हुआ कि महान् पुरुषों की क्रिया की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, बरन उनके अपने निजी पौरुष पर निर्भर होती है।

२७४

(२) दूसरे कवि ने समस्या की पूर्ति इस प्रकार की—

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः
निरालबो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि ।
रविर्गच्छत्यन्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महता नोपकरणे ॥

भावार्थ — सूर्य ऐसे रथ पर सवार है, जो केवल एक पहिये पर चलता है। उसमें सात छोड़े जुते हुए हैं और उन घोड़ों को काबू में रखने के लिए जो सगाम है, वह भयानक विपत्तियों की बनी हुई है। रथ भी जिस मार्ग पर चलता है, वह शून्य आकाश में है, जिसका कोई अवलम्ब नहीं है। अरुण जो उसका सारथि है, वह बिना चरण के है। तो भी, इन सब कठिनाइयों के होते हुए, सूर्य प्रतिदिन अनन्त आकाश के इस पार से उस पार तक चक्कर लगाता रहता है। तो सिद्ध हुआ कि महान् पुरुषों के कार्य की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, बल्कि उनके अपने आन्तरिक साहस और बल पर निर्भर होती है।

२७५

(३) तीसरे कवि ने समस्या की पूर्ति अगस्त्य मुनि का उदाहरण देकर की—

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनं
 वने वासः कन्दाशनमपि च दुःस्थं वपुरिवम् ।
 तथाप्येकोऽगस्त्यः सकलमपिवद्वारिधिजलं
 क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

भाषार्थः—अगस्त्य ऋषि पैदा हुए थे घड़े में, कोई ऊँचे कुल के भी नहीं थे । मृग उनके परिजन थे । भोजपत्र उनका वसन था । वन में उनका निवास था । कन्द मूल उनका आहार था । ऐसे सकट में पला उनका दुर्बल शरीर था । तथापि वह अकेले सारे समुद्र का जल पी गये । इससे सिद्ध होता है कि महान् पुरुषों के कार्यों की सिद्धि बाहरी साधनों पर नहीं, बरन अपने आन्तरिक बल और वीर्य पर अवलम्बित होती है ।

२७६

(४) चौथे कवि ने कामदेव का उदाहरण देकर समस्या पूर्ति की—

धनुः पौष्पं भोर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां
 दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः ।
 तथाप्येकोऽनंगस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
 क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥

And drinking largely sobers us again.
—Pope

२७८

शिरःशार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गंगेयं पदमुपगता स्तोकमधुना
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः क्षतमुखः ॥

भावार्थः—गंगा पहले आकाश से महादेव जी के सिर पर गिरी, महादेव जी के सिर से हिमालय जैसे ऊँचे पर्वत पर गिरी, पर्वत से पृथ्वी पर गिरी, पृथ्वी से समुद्र में गिरी—इस तरह लगातार गिरती ही गयी और अब वह एक छोटे-से प्रवाह के रूप में बहने लगी । सच है, जो लोग विवेक से भ्रष्ट हो जाते हैं—जिनमें अच्छे-बुरे तथा छोटे-बड़े का विवेक नहीं रह जाता—उनका सँकड़ो प्रकार से पतन होने लगता है ।

२७९

पौलस्त्यः कथमन्यवारहरणो दोषं न विज्ञातवान्
रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासंभवो लक्षितः ।
अक्षंश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥

भावार्थ — रावण जैसा विद्वान् और नीतिनिपुण मनुष्य, पराई स्त्री का हरण करने में कोई दोष न देख सका, राम

जैसे महापुरुष सोने का भी कही मृग होता है इस बात को न समझ सके तथा मुधिष्ठिर जैसे धर्मराज जुए के कारण अनर्थ को प्राप्त हुए। सच है जब किसी के ऊपर विपत्ति आने को होती है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। तुलसीदास ने भी कहा है—

“आको प्रभु दारुण दुख देही ।
ताकी भति पहले हर लेही ॥”

२८०

सिंहक्षुण्णकरीन्द्रकुंभगतितं रयतावतमुक्ताफलं
कान्तारे धवरीधिया द्रुतमगाद्भित्तस्य पत्नी मुदा ।
पाणिभ्यामवगुह्य शुक्लकठिनं तद्वीक्ष्य द्वारे जहा-
वस्थाने पततामतीव महतामेतादृशी स्याद् गतिः ॥

भावार्थः—वन में किसी भित्तिनी ने, सिंह के पैने नखों से विदारित हाथी के गण्डस्थल से, गिरे हुए तथा रुधिर से सने हुए लाल मोती को देखा और यह समझकर कि वह घेर का फल है, उसे हर्ष के मारे उठाने के लिए दौड़ी। परन्तु जब हाथ में उसको लिया तो यह देखकर कि यह तो कोई सफेद और कड़ी वस्तु है, उसको दूर फेंक दिया। ठीक है, अयोग्य-स्थान में जब कोई महान् पुरुष आ पड़ता है, तो उसकी यही दुर्गति होती है।

२८१

तस्याग्निर्जलभर्णवः स्थलमरिमित्रं सुराः किकराः
कान्तारं नगरं गिरिर्गृहमहिमल्यं भृगारिमृगः ।

पातालं बिलमस्त्रमुत्पलदलं व्यालः शृगालो विषं
पोष्यं विषमं समं च वचनं यः सत्यमाभाषते ॥

भावार्थः—जो सदा सत्य का पालन और सत्य का भाषण करता है, उसके लिए आग शीतल जल के समान बन जाती है, समुद्र स्थल बन जाता है, शत्रु मित्र हो जाता है, देवता लोग सेवक बन जाते हैं, वन नगर बन जाता है, सर्प पुष्पों की माला बन जाता है, सिंह मृग के समान वश में हो जाता है, पाताल बिल बन जाता है, भयंकर अस्त्र कमल के समान कोमल हो जाता है, व्याल (मस्त हाथी) शृगाल (सियार) हो जाता है, विष अमृत हो जाता है और कठिन से कठिन वस्तु सरल हो जाती है। सत्य की अपार महिमा है !

२८२

अरप्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्धत्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूयरे वपितम् ।
द्वपुच्छमवनामितं बधिरकण्ठजापः कृतो
घृतोऽन्धमुखदपंणो घदबुधो जनः सेवितः ॥

भावार्थः—मूर्ख मनुष्य की सेवा वैसे ही निरर्थक और निष्फल है, जैसे कि निर्जन वन में रोना, जहाँ कोई सुनने वाला नहीं, या मुँह के शरीर में बटना लगाना, या स्थल में कमल के पीछे की योजना, या कुत्ते को पूछ को सीधी करने का प्रयत्न करना, या बहिरे के कान में कहना, या अन्ध के मुख के सामने दपंण का रखना ।

२८३

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न जायते
 मुक्ताकारतया तदेव नलिनोपत्रस्थितं राजते ।
 स्वाती सागरशुक्लितकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
 प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संगत्सतो जायते ॥

भावार्थः—खूब गरम लोहे पर पड़े हुए जिस जल का नाम भी नहीं रहता, वही जल कमल-पत्र पर मोती की तरह चमकता है । वही जल स्वाति नक्षत्र में, समुद्र के श्रन्दर, सीप में पड़कर मोती बन जाता है । अतएव सिद्ध हुआ कि सगति के अनुसार ही मनुष्य में प्रायः नीच, मध्यम और उत्तम गुण उत्पन्न होते हैं ।

२८४

शशो दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
 सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकूतेः ।
 प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
 नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥

भावार्थः—दिन के समय कुम्हलाया हुआ चन्द्रमा, जवानी चली जाने पर मुर्झायी हुई सुन्दरी स्त्री, कमल-सूख जाने पर सूना सरोवर, निरक्षर मनुष्य का सुन्दर मुख, धन का लोभी मालिक, सदा दुर्गति में पड़ा हुआ सज्जन, राजा के दरबार में भेड़

भारने वाला दुष्ट मनुष्य—ये सात मन में काँटे की तरह खट-कते हैं ।

२८५

किं कोकिलस्य विरुतेन गते वसन्ते
किं कातरस्य बहुशस्त्रपरिग्रहेण ।
मित्रेण किं व्यसनकालपराङ्मुखेन
किं जीवितेन पुरुषस्य निरक्षरेण ॥

भावार्थः—वसन्त ऋतु बोट जाने पर कोयल की कूक से क्या लाभ ? कायर मनुष्य को बहुत-से शस्त्रों से सुसज्जित कर देने से क्या लाभ ? मित्र पड़ने पर साथ छोड़ देने वाले मित्र से क्या लाभ ? मनुष्य निरक्षर होकर जिये, तो उससे क्या लाभ ?

२८६

हंसो विभाति नलिनीदलपुंजमध्ये
सिंहो विभाति गिरिगह्वरकन्दरासु ।
जात्यो विभाति तुरगो रणपुद्धमध्ये
विद्वान्विभाति पुरुषेषु विचक्षणेषु ॥

भावार्थः—जिस प्रकार हंस कमलो के समूह के बीच में शोभा पाता है, सिंह पहाड़ की गहरी गुफाओं के बीच में शोभा पाता है, अच्छी नस्ल का वेग वाला घोड़ा रणभूमि में शोभा

पाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष पण्डितों के बीच में ही शोभा पाता है ।

२८७

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
घनान्धकारेष्ठिव दीपदशनम् ।
सुखाच्च यो याति नरो वरिद्रतां
मृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥

भावार्थः—दुःख अनुभव करने के बाद, यदि सुख मिलता है तो वह वैसा ही शोभा देता है, जैसे कि घनघोर अन्धकार के बाद, दीपक जल जाने पर, उज्ज्वल प्रकाश शोभा देता है । परन्तु सुख अनुभव करने के बाद, जो मनुष्य दरिद्रता को प्राप्त होता है, वह जीता तो है, परन्तु वैसे ही जैसे मृत मनुष्य शरीर धारण किये रहता है ।

२८८

मर्कटस्य सुरापानं तस्य वृश्चिकदशनम् ।
तन्मध्ये भूतसंचारो यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

भावार्थः—बन्दर को शराब पिला दी जाय और उसके ऊपर बीछी उसको इस ले और उसके ऊपर भी कोई प्रेत का घास उसके शरीर में हो जाय, तो फिर उसका क्या कहना ? जो न हो जाय सो थोड़ा है ।

दिवा पश्यति नोलूकः काको नक्तं न पश्यति ।

अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥

भाषार्थः—उलू दिन को नहीं देखता और कौआ रात को नहीं देखता । परन्तु कामान्ध मनुष्य उन दोनों से भी अनोखा है, जो न दिन को देखता है और न रात को ।

वन्तिवन्तसमानं हि निःमृतं महतां वचः ।

कूर्मप्रीवेव नीचानां पुनरायाति याति च ॥

भाषार्थः—बड़े लोगों के वचन हाथी के दान्त के समान होते हैं—एक बार निकले तो निकले, फिर वापस नहीं जाते । परन्तु नीच लोगों के वचन कछुवे की गर्दन के समान बार-बार निकलते हैं और बार-बार वापस चले जाते हैं । नीच अपनी बात पर टिकते नहीं, किन्तु बड़े लोगों की बात पत्थर की लकीर होती है ।

पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः ।

प्रायेण ही सुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥

भाषार्थः—गेन्द को कितना ही दवाओ और हाथ से कितनी ही बार गिराओ, किन्तु वह हर बार उछलकर ऊपर को चला

आता है । इसी प्रकार अच्छे चरित्र वाले पुरुषों को कितना ही दबाया जाय और कितनी ही विपत्तियाँ उनके ऊपर आ पड़े, पर वे दब नहीं सकते, विपत्तियों को पार करके ऊपर उठ ही आते हैं ।

२६२

कुसुमस्तवकस्येव द्वयो वृत्तिर्मनस्विनः ।

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥

भाषार्थः—पुष्पो के गुच्छों के समान मनस्वी और स्वाभि-
मानी पुरुषों की दो गति होती है, या तो वे सब लोगों के सिर
पर चढ़ेंगे-सब लोगों से आदर पायेंगे अथवा एकान्त में रहकर
सूख जायेंगे-बिना झुके हुए अपना जीवन बिता देंगे । वृन्द कवि
ने हिन्दी में इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

हैं ही गति है बदन की, कुसुम मालती भाय ।

कैं सब के सिर पर रहे, कैं वन माहि बिलाय ॥

२६३

राजा कुलवधूविप्रा मंत्रिणश्च पयोधराः ।

स्यान्भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ता. केशा नरा नखाः ॥

भावार्थः—राजा, कुलीन स्त्री, ब्राह्मण, मंत्री, स्तन, दान्त,
केश, नख और योग्य व्यक्ति जब अपने स्यान् से च्युत हो जाते
हैं, तो शोभा नहीं देते । उनकी शोभा तभी तक है, जब तक वे
अपने उचित और योग्य स्यान् पर बने रहते हैं ।

२६४

सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यभूषितम् ।

कायः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम् ॥

भाषार्थ—जिसका हृदय दया से परिपूर्ण है, जिसकी वाणी सत्य से घलकृत है, जिसका शरीर दूसरों के हित में लगा हुआ है, ऐसे मनुष्य का कलियुग क्या बिगाड़ सकता है ?

२६५

व्यापारान्तरमुत्सृज्य वीक्षमाणो वधूमुखम् ।

यो गृहेष्वेव निव्राति दरिव्राति स बुर्मतिः ॥

भाषार्थः—सब काम छोड़कर जो केवल अपनी पत्नी का मुख देखता हुआ, घर में पड़ा सोता रहता है, वह मूर्खमति निस्सन्देह सदा दरिद्र बना रहता है ।

२६६

लोको मद्युगजन्मा कृतकृतकर्मा न मद्धर्मा ।

इति रोषादिव कलिना बलिना संपीड्यते साधुः ॥

भाषार्थः—इस कलियुग में साधु सज्जन लोग क्यों दुखी रहते हैं, इसका कारण इस श्लोक में सुनिये—“सज्जन लोग पैदा तो हुए हैं मेरे युग में और काम करते हैं सत्ययुग का, मेरे धर्म का पालन नहीं करते”—इस कारण क्रोध में आकर, कलियुग साधु सज्जन पुरुषों को सताता करता है ।

२६७

परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः ।

गंगा ब्रूते कदागत्य मामयं पावयिष्यति ॥

भावार्थः—गंगा जो स्वयं सब पतितों को पवित्र करने वाली है, कहती है कि जो मनुष्य पराई स्त्री, पराया धन और पराये से द्रोह—इन तीनों से विमुख है, ऐसा मनुष्य कब आयेगा और मेरे में स्नान करके मुझे पवित्र करेगा । सदाचार की अद्भुत महिमा है !

२६८

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः ।

याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रवा इव ॥

भावार्थः—विद्वान् और सज्जनो के मुख से कोई बात, बिना विचारे सहसा निकलती ही नहीं और यदि एक बार निकल गयी, तो उसको वह कभी वापस नहीं लेते, अपनी बात पर डटे रहते हैं । जिस तरह हाथी के दाँत निकले तो निकले, फिर अन्दर नहीं जाते । इसी इलोक का भाव लेकर हिन्दी का यह दोहा भी है—

रम सन्मुख पग सूर के, वचन कहे ते सन्त ।

निकस न पाछे होत हैं, ज्यो गयन्द के दन्त ॥

२६९

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः ।

इतरेण्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः ॥

भावायः— गोवर्धन-सप्तशती का यह श्लोक सच्चे प्रेम के बारे में है—जो बात दूसरों के मुँह से कही गयी गाली गिनी जायगी, वही बात यदि अपना प्रियतम कहे, तो केवल परिहास (हँसी मजाक) माना जायगा। सच है, सामान्य लकड़ी के जलने से जो धुँपा उठता है उसको तो “धूम” के नाम से पुकारा जाता है, वही यदि अगुरु के जलने से उठे, तो “धूप” कहलाता है। प्रेम का पन्थ निराला है !

३००

अकुले पतितो राजा मूर्खपुत्रोहि पण्डितः ।

निधनस्य धनी पुत्रस्तृणवन्मन्यते जगत् ॥

भावायः—नीच कुल में उत्पन्न मनुष्य राजा हो जाय, मूर्ख मनुष्य का पुत्र पण्डित हो जाय, निधन पिता का पुत्र धनी हो जाय, तो उसके अभिमान का क्या ठिकाना ? वह सत्तार को तिनके के समान मानने लगता है “प्यादे से फरजी भये कि तिरछे तिरछे जाय।”

३०१

अतिपरिचयादवज्ञा संततगमनादनादरो भवति ।

लोकः प्रयागवासी कूपोदके स्नानमाचरति ॥

भावायः—अति परिचय होने से अवज्ञा हो जाती है और रोज-रोज किसी के घर जाने से आदर नहीं रह जाता। इसी कारण देसो, प्रयाग के रहने वाले लोग, जहाँ गंगा, यमुना जैसी

दो बड़ी नदियाँ बहती हैं, नदी में स्नान न करके कुएँ के पानी से स्नान करते हैं। यह अति परिचय का ही परिणाम है।

३०२

प्रमदा मदिरा लक्ष्मीर्विज्ञेया त्रिविधा सुरा । ०

वृष्टैवधोन्मादयत्येका पीता चान्यातिसंचयात् ॥

भाषार्थः—प्रमदा, मदिरा और लक्ष्मी—ये तीन प्रकार की शराब हैं। प्रमदा देखने मात्र से, मदिरा पीने से और लक्ष्मी अतिसंचय करने से, मनुष्य को मतवाला बना देती हैं।

संसार की असारता

३०३

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तं होनः क्षणमपि च संपूर्णविभवः ।
जराजीर्णरंगेनैव बलीमण्डिततनुनंदः
संसारान्के विनशति यमघातीजवनिकाम् ॥

भावार्थः—नट जिस तरह नाटक में कभी बालक का और कभी युवा का, कभी रंक का और कभी राजा का, तथा कभी जप्पल बुड्ढे का पाट अदा करके, पर्दे के पीछे चला जाता है, वैसे ही मनुष्य इस संसार-रूपी नाटक में, कभी बालक बनता है, उसके बाद कामी रसिक युवा बनता है, फिर कभी धनहीन दरिद्र बनता है और कभी सम्पूर्ण ऐश्वर्य से सुसज्जित होकर संसार का सुख भोगता है, तथा अन्त में जिसके सारे शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयी हैं ऐसे जराजीर्ण बुड्ढे का स्वाग रचकर, अन्तिम पटाक्षेप के साथ यमपुरी रूपी पर्दे के पीछे छिप जाता है ।

३०४

क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः
क्वचिद्वीर्यानादः क्वचिदपि च हाहेति यदितम् ।

क्वचिद्रम्या रामा क्वचिदपि जराजर्जरतनुर्न
जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ।

भावार्थः—कही विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ हो रहा है, तो कही शराब के नदी में छुर शराबी आपस में तू तू मैं मैं कर रहे हैं, कही वीणा की स्वर-लहरी झुंकार कर रही है तो कही हाहाकार और रोना-पीटना मचा हुआ है, कही सुन्दर से सुन्दर रूपवती रमणिया विलास कर रही है, तो कही बुढ़ापे से जर्जर शरीर वाला कोई खूंसट बुढ़ा खास रहा है—पता नहीं यह संसार अमृत से पूर्ण सुन्दर सरोवर है या विष से भरा हुआ घड़ा है ।

३०४

दन्तैः प्रस्थितमग्रतस्तदनु भोः शौक्यं घृतं मूर्धजैः
कर्णभ्यामपि वाग्विलासरचना कण्ठात्समाकर्ण्यते ।
नेत्राभ्यामपि चापलं युवतिषु त्यक्तं गतं यौवनं
साधेऽस्मिंश्चलिते कथं पुनरहं यातास्मि तच्चिन्तये ॥

भावार्थ —पहले तो दान्त चले गए, उनके पीछे वालों ने भी सफेदी धारण कर ली, उसके बाद कानों ने भी जवाब दे दिया और अब बड़े बड़े से बाणों के विलास से पूर्ण रचना सुनायी पड़ती है । नेत्रों ने भी युवतियों के प्रति अपनी चंचलता को त्याग दिया है—अब नेत्रों में कोई आकर्षण नहीं रह गया है । जवानी भी अब चली गयी है । ये सब साथी एक एक करके

साथ छोड़कर चले गये। अब मैं बिना इन साथियों के कैसे जाऊंगा—यही मैं सोच रहा हूँ। एक उर्दू के कवि ने भी कुछ इसी ढंग पर कहा है—

“अब तमन्ना वेसदा है, अब निगाहें वेपयाम।

जिन्दगी एक फर्ज है, जोता चला जाता हूँ मैं ॥”

उर्दू का एक और शेर भी है—

वहारे ख़ुशवार भारजी है, खिजा बराबर लगी हुई है।

जवानी दो दिन की पाहुनी है, सदा किसी की नही रही है ॥

३०६

आवित्यस्य गतागतैरहरतः संक्षीयते जीवितं

व्यापारेर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न जायते ।

दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं आसन्नं नोत्पद्यते

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

भाषार्थः—प्रतिदिन सूर्य अस्त होता है और उदय होता है, इस प्रकार जीवन का क्षय होता जा रहा है। अनेक सासारिक कार्यों और व्यापारों में व्यस्त रहते हुए, समय बीता जा रहा है—इसका भी भान कभी नहीं होता। प्रतिदिन जन्म, जरा, व्याधि और मरण को देखकर भी यह भय नहीं होता कि एक दिन मेरी भी यही दशा होने वाली है। इस प्रकार सारा ससार, मोह और अज्ञान से भरी हुई प्रमाद रूपी मदिरा को पीकर, मतवाला हो रहा है। ज्ञान कैसे हो ? भगवद्‌हरि ने इस श्लोक का हिन्दी पद्यानुवाद किसी ने इस प्रकार किया है :—

उदं अस्त रवि होत आयु को क्षीण करत नित ।
 गृह धन्दे के माहि समय धीतत अजान चित ॥
 आखिन देखत जन्म जरा अरु विपत्ति मरन नित ।
 तहूँ डरत नहि नेक शक'हूँ नाहि करत चित ॥
 जग जीव मोह मदिरा पिए छाँके फिरे प्रमाद मे ।
 गिरत उठत फिर फिर गिरत विषय यासना स्वाद मे ॥

३०७

महाशय्या भूमिमंसृणुमुपधानं भुजलता
 वितानं चाकाशं व्यजनमनुफूलोऽयमनिलः ।
 स्फुरन्दीपश्चन्द्रः स्वधृतिवनितासंगमुदितः
 सुखं शान्तः शेते विगतभवभोतिनृप इव ॥

भावायं:—विस्तृत भूमि ही जिसका पलग है, चिकनी भुजा
 ही जिसकी तकिया है, चारो ओर फैला हुआ आवारा ही
 जिसका चन्दोवा है, ठंडी ओर शरीर को सुगंध देने वाली हवा
 ही जिसका पल्ला है, प्रकाशमान चन्द्रमा ही जिसका दीपक है,
 धृति (धैर्य) ही जिसकी पत्नी है—ऐसा मनुष्य राजा के समान
 सुरा और शान्ति के साथ, चिन्तारहित होकर, शयन करता है ।
 भगवद् हरि के इस श्लोक का हिन्दी अनुवाद किसी ने इस प्रकार
 किया है—

पृथिवी परम पुनीत पलग ताको मन मान्यो ।
 तकिया अपनी हाथ गगन को तम्बू तान्यो ॥
 मोहत चन्द चिराग बीजना करन दमो दिशि ।
 वनिता अपनी धृति सगही रह्य दिवस निशि ॥

अतुलित अपार संपत्ति सहित सोवत है सुख में मगन ।
मुनिराज महा नृपराज ज्यों पीढ़े देखे हम दृगन ॥

३०८

व्याघ्रोद्य तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
प्रायुः परिलवति भिन्नघटादिवांभो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥

सावार्थ.—बृद्धावस्था शेरनी के समान सामने खड़ी हुई डरा
रही है, रोग शत्रु के समान प्रहार कर रहे हैं, आयु का एक
एक क्षण जैसी प्रकार निकलता चला जा रहा है, जिस प्रकार
कि छेदहे घड़े से पानी एक-एक बून्द करके बह जाता है—
तथापि मनुष्य बुराई करने से नहीं चूकता, यह महान् आश्चर्य
की बात है । कहाकवि अकबर ने भी यही कहा है—

दिन गुजरते ही चले जाते हैं
लोग मरते ही चले जाते हैं ।
जानते हैं कि यह गफलत के हैं काम
फिर भी करते ही चले जाते हैं ॥

३०९

भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखो धावति
ध्यात्रो धावति केकिनं विधिवशात् व्याघोऽपि तं धावति ।

स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जना व्याकुलाः
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते ॥

भावार्थः—मेढक दौड़ा जा रहा है, उसको खाने के लिए उसके पीछे संपं दौड़ रहा है, साप को खाने के लिए उसके पीछे मोर दौड़ रहा है, मोर का शिकार करने के लिए उसके पीछे शेर दौड़ रहा है, और भाग्य का खेल तो देखो कि शेर के पीछे उसका शिकार करने के लिए व्याधा (शिकारी) दौड़ रहा है। इस प्रकार अपने-अपने आहार-विहार का साधन जुटाने में ही सब लोग व्यग्र हैं। कोई नहीं देखता कि महाबली काल उसका बाल पकड़े हुए, उसके पीछे खड़ा है।

३१०

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पाश्वे तस्य च सा विदग्धपरिपत्ताश्चन्द्रधिम्वाननाः ।
उद्वृत्तः च राजपुत्रनिवहस्ते चन्दनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपर्यं कालाय तस्मै नमः ॥

भावार्थः—वे मन लुभाने वाली, सर्व-सम्पन्न, सुसज्जित राजधानियाँ, वे बड़े-बड़े राजे और महाराजे, वे शूरवीर सामन्त और जागीरदार, उनके दरबार में बड़े-बड़े बुद्धिमान, विद्वान्, दरबारी और सभासद, वे चन्द्रमुखी रानियाँ और पटरानियाँ, वे सत्ता के मद में मतवाले राजकुमार, वे स्तुति और प्रशंसा करने वाले चारण और भाट तथा उनकी स्तुति-बधाएँ और

कविताएँ—वे सब जिस काल के चक्कर में आकर अब केवल स्मरणमात्र में शेष रह गये हैं, उनकी हृदय-केवल याद ही बाकी रह गयी है, उस काल को मेरा नमस्कार है !

३११

वयमिह परितुष्टा बल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽयंवान् को दरिद्रः ॥

भावार्थः—कोई सन्तोषी जानी पुरुष किसी राजा से कहता है—राजन्, तू हमे दरिद्र समझता है, पर हम दरिद्र नहीं हैं। तू शाल-दुशालो से सन्तुष्ट होता है, तो हम पेड़ की छाल के वस्त्र पहिनकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। जब दोनों प्रकार से सन्तोष हो जाता है, तब फिर अन्तर क्या रहा ? दरिद्र तो वह है जिसकी तृष्णा बड़ी हो। जब मन सन्तुष्ट है, तो फिर कौन घनी और कौन निर्धन ? इसी भाव का कबीर का यह दोहा भी है—

गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खान ।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान ॥

३१२

यमं येन्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मरणपदवीं तेऽपि गमिताः ।

इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥

भावार्थः—हम जिनसे पैदा हुए, वे हमारे माता-पिता बहुत पहले ही इस संसार से कूच कर गये । जिनके साथ खेले-खाये और बड़े हुए, वे हमारे मित्र और बन्धुगण भी अब केवल स्मरणमात्र में शेष रह गये हैं । अब तो हमारी दशा किसी नदी के रेतीले किनारे पर उगे हुए, उस वृक्ष के समान हो गई है, जो किसी क्षण भी नदीके प्रवाह के झोके से लड़खड़ा कर, गिरने ही वाला है ।

३१३

मातलक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्कांक्षिणी मास्म भू-
भोगेभ्यः स्पृहयालवो न हि वयं का निःस्पृहाणामसि ।
सद्यः स्पृतपलाशपत्रपुटके पात्रे पवित्रीकृते
भिक्षासक्तुभिरेव संप्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥

भावार्थः—माता लक्ष्मी, किसी दूसरे के पास जाओ, मेरी आकांक्षा मत करो । भोगों की ओर अब मेरी कोई इच्छा नहीं रह गयी है । जिसकी कोई इच्छा नहीं रही है, उसके लिए तुम तिनके के समान हो । अब तो मैं ताजे पत्ते से बनाये हुए पवित्र दोने में, भिक्षा से प्राप्त सत्तू से ही, अपना गुजारा कर लेता हूँ । मुझे और कुछ नहीं चाहिये ।

३१४

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
 स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
 कालो न यातो वयमेव याता-
 स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

भावार्थ.—हम कहते हैं कि भोगो को हमने भोगा है, परन्तु वास्तव में हमने भोगो को नहीं भोगा है, भोगो ने ही हमें भोग डाला है । हम कहते हैं कि तपो को हमने तपा है, परन्तु वास्तव में तपो ने ही हमें तप डाला है । हम कहते हैं कि काल चला गया है, पर वास्तव में काल तो वही था वही है, हमी चले गये हैं । इसी प्रकार तृष्णा और लालसाएँ जीर्ण नहीं हुई हैं, परन्तु हमी जीर्ण हो गये हैं । इसका भावानुवाद हिन्दी में किसी ने इस प्रकार किया है—

भोग रहे भरपूर आयु यह भुगत गई सब ।
 तपो नाहि तप मूढ अवस्था तपत भई अब ॥
 काल न कितहूँ जात वयस यह चली जात नित ।
 वृद्ध भई नाहि आस वृद्ध वय भई छाडि हित ॥
 अजहुँ अचेत चित चेत कर देह गेह सो नेह तज ।
 दुख दोष हरण मंगल करन श्री हरिहर के चरण भज ॥

३१५

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
 अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मद्विरेक्षणाः ॥

भावार्थः—हे ससार ! तुम्हे पार कर जाने का रास्ता दूर न होता, यदि बीच में विघ्न-रूप ये मतवाले नैशवाली स्त्रिया न आ जाती । किसी हिन्दी कवि ने इसका पद्यानुवाद इस प्रकार किया है—

जो होती नहि नार, मदमाती मृगलोचनी ।
जग के परसो पार, गमन न दुर्लभ कलुक था ॥
इसी भाव को लेकर बिहारी का यह दोहा भी है—
या भव पारावार को, उलघि पार को जाय ।
तियछवि छाया ग्राहनी, गहै बीच ही आय ॥
अकबर ने भी अपने हास्य रस में कहा है—
“चिपकू दुनिया से किस तरह मैं ।
भौरत ने कहा कि गोद मैं हूँ ॥”

३१६

श्लोकः पृच्छति सद्वाक्तां शरीरे कुशलं तव ।
कुतः कुशलमस्माकमायुर्याति दिने दिने ॥

भावार्थः—लोग पूछते हैं—“भाई, शरीर कुशल से तो है ?” मैं बहता हूँ “कुशल कहाँ से है, जबकि आयु दिन पर दिन क्षीण होती चली जा रही है ?” इसी भाव का एक उद्धृत शेर भी है—
लोग दुआ देते हैं साल-गिरह की ।
याँ एक साल और गयी अपने गिरह की ॥
एक और कवि बहता है—

सुबह होती है शाम होती है ।
उम्र यो ही तमाम होती है ॥

३१७

मृत्योर्विभेषि किं मूढं भीतं मुंचति किं यमः ।

अजातं नैव शृङ्गाति कुरु यत्नमजन्मनि ॥

भाषार्थः—रे मूर्ख ! तू मृत्यु से क्यों डर रहा है ? मृत्यु से डरने वाले को यमराज क्या छोड़ देता है ? हाँ, जो जन्मा ही नहीं है, उसे यमराज नहीं पकड़ता, अतएव ऐसा प्रयत्न कर कि सदा के लिए मोक्ष हो जाय, फिर जन्म ही न सेना पड़े ।

सुवर्णस्य मे मुख्यदुःखं तदेकं
यतो मां जना गुंजया तोलयन्ति ॥

भावार्थः—योग्य को अयोग्य के साथ तुलना करने से क्या दुःख होता है, इसी बात को लक्ष्य करके यह अन्योक्ति है। सोना कहता है—मुझे इस बात का कोई गम नहीं है कि मुझे लोग आग में तपाते हैं और हथौड़े से पीटते हैं, मुझे इस बात का भी दुःख नहीं है कि लोग मुझे बाजारों में जहाँ-तहाँ बेचते हैं। परन्तु दुःख है तो इस बात का, कि लोग मुझे तुच्छ गुंजा (धूंगड़ी) के साथ तोलते हैं, मेरी बराबरी गुंजा के साथ करते हैं !

३२०

यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चादून्मृषा
नैषां गर्वगिरः शृणोषि न च तान्प्रत्याशया धावसि ।
काले बालतृणानि खादसि परं निद्रासि निद्रागमे
तन्मे ब्रूहि कुरंग कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः ॥

भावार्थः—किसी धनी मनुष्य से अपमानित किया गया कवि, मृग को संबोधन करके, कहता हैः—हे मृग, जो तुमको धनियों का मुख बारबार नहीं देखना पड़ता, उनके सामने जाकर व्यर्थ में उनकी चाटुकारों नहीं करनी पड़ती, उनकी गर्व-भरी वाणियों सुननी नहीं पड़ती, उनके पास प्राप्ति की आशा से बार-बार दौड़ना नहीं पड़ता, भूख लगने पर कोमल घास खाकर अपना पेट भर लेते हो, नींद आने पर निश्चिन्त सो लेते हो—तो

हे मृग, मुझे भी बताओ, कौन-सा तप और कष्ट तुमने किया कि यह सब तुमका प्राप्त है, जो मुझको प्राप्त नहीं है ?

३२१

हेलोत्लासितकल्लोल धिक्ते सागर गर्जितम् ।

तव तीरे तृषाक्रान्तः पान्यः पृच्छति कूपिकाम् ॥

भावार्थ.—हे समुद्र, बड़ी-बड़ी उलाल सहरो के साथ तू गजता है । तेरे गर्जने को धिक्कार है । क्यों कि तेरे रहते हुए भी, प्यासे पयिक को तेरे किनारे पर स्थित किसी कुएँ पर, अपनी प्यास बुझाने के लिये, जाना पड़ता है । इसी भाव को रहीम ने इस प्रकार प्रगट किया है—

धनि रहीम जल रूप को, लघु जिय पियत अघाय ।

उदधि बडाई कौन है, जगत पियासी जाय ॥

३२२

यद्यपि का नो हानिः परकीयां द्राक्षा रासभश्चरति ।

असमजसमिति मत्वा तथापि नो खिद्यते चेतः ॥

भावार्थः—अयोग्य या अपात्र को ऊँचा पद मिल जाय या जिसके योग्य वह नहीं है वह वस्तु उसको मिल जाय, तो देखने वाले विवेकी मनुष्य को खलना है, इसी बात को लक्ष्य करके यह अन्योक्ति है—यद्यपि अगूर की खेती हमारी नहीं है, किसी दूसरे की है । और यदि कोई गदहा उसे चरता है तो उसमें हमारी क्या हानि है ? परन्तु यह एक अत्यन्त अटपटी और

अनुचित बात है कि गदहा अंगूर की खेती चरे, इससे हमारा मन खिन्न हो रहा है ।

३२३

धीरध्वनिभिरलं ते नीरद मे मासिको गर्भः ।

उन्मदवारणबुद्ध्या मध्येज्जरं समुच्छलति ॥

भावार्थः—एक सिंहिनी जिसके केवल एक मास का गर्भ पेट में है, गजेंते हुए मेघ को सम्बोधन करके कहती हैः—हे मेघ, मत गरज ! मत गरज ! अपने इस गम्भीर नाद को वन्द कर ! देखता नहीं है कि एक मास का गर्भ मेरे पेट में है । वह यह समझकर कि कोई मतवाला हाथी धिंघाड़ रहा है, मेरे पेट में उछल रहा है कि बाहर निकलें और इसे पछाड़ें । यह श्लोक वीर रस का भी एक उत्तम उदाहरण है । इसके एक-एक शब्द से वीर रस टपक रहा है । इसका हिन्दी अनुवाद किसी ने इस प्रकार किया हैः—

अहो मेघ मति गरजु अब, मेरो मासिक गर्भ ।

जानि मत्तगज उदरमधि, उछलत आज सगर्व ॥

३२४

त्वयि वर्धति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः ।

अस्माकमकंवृक्षाणां पूर्वपत्रेऽपि संशयः ॥

भावार्थः—वर्षा होने पर सब पेड़ पल्लव हरे-भरे हो जाते हैं, परन्तु मदार का पेड़ उलटा सूख जाता है, इस पर मदार का पेड़ मेघ को सम्बोधन करके कहता हैः—हे मेघ, तुम्हारे वरसने पर

सब पेड़तो हरे-भरे हो गये, सबो पर पत्ते छा गये । परन्तु, हम मदार के पेड़ो का यह हाल है कि हमारे पत्ते जो पहले थे, उनके भी चले जाने की शका हो रही है । यह भाग्य का खेल है ।

३२५

भीतो वाङ्मवासतो जलनिधौ शंभोः शिरः स्वीकृतं
तत्र त्र्यम्बकमौलिवासुकिविषज्वालावलीत्रासितः ।
तस्माल्लोकमगाद्विषं निपतितस्तत्रैव राहोर्मुखं
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥

भावार्थ :—प्रभागा मनुष्य कही भी जाय, विपत्ति उसका कभी साथ नहीं छोड़ती-इस पर चन्द्रमा को सकय करके यह ग्रन्थोक्ति है :—

चन्द्रमा का असली निवास समुद्र है । वहाँ वाङ्मग्नि से वचने के लिये, उसने भगवान् शिव के शिर में शरण लेकर रहना स्वीकार किया । वहा शिव की जटा में रहने वाले नाग वासुकि के विष की ज्वाला से भयभीत होकर, वह आकाश में रहने लगा । परन्तु वहाँ भी उसको चैन नहीं मिला । वहाँ राहु उसको प्रसने के लिये सदा तैयार रहता है । सच है, भाग्य-रहित मनुष्य जहाँ जहाँ जाता है, वहाँ वहाँ विपत्ति भी उसके साथ साथ लगी रहती है ।

३२६

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजधो ।

इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेके
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ।

भावार्थ :—एक भौरा सन्ध्या समय एक कमल के पुष्प पर, उसका रस पीने के लिये, आकर बैठा । इतने में सूर्य छिप गया और कमल का पुष्प मुन्द जाने से, भौरा उसी के अन्धर बन्द हो कर सोचने लगा —

“रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य उदय होगा, कमलों की शोभा खिलेगी” । इस प्रकार जब भौरा सोच ही रहा था कि एक मस्त हाथो आया और उसने कमल को नाल-सहित उखाड़ कर फेंक दिया । मनुष्य कितनी आशा लगाता है, पर विधाता के मन में नहीं होता, वो कोई आशा पूरी नहीं होती, “अपने मन कुछ और है धाता के कुछ और” । इसी भाव को लेकर यह अन्योक्ति है । हिन्दी पद्य में इसका अनुवाद किसी ने इस प्रकार किया है —

आयो एक भ्रमर प्रफुल्लित सरोज पास,
मजु मकरन्द के सनेह जाल परिके ।
कहै कुसुमाकर दिवाकर विदा ह्वै गये,
मुदि गो सरोज और औरै गहो डरिके ॥
बीतेगी विभावरी प्रकाश भानु दइहै तब,
जँहो कहू बाहर सपासो हो निकरिके ।
सोचति ही रहि गो उपाय इमि जौ लौ वह,
तौलो गज तोडो आय पाछुरी पकरिके ॥

३२७

शैत्यं नाम गुणस्तथैव सहजः स्वाभाविकी स्वच्छता
 किं ब्रूमः शुचितां भवन्ति शुचयः स्पर्शेन यस्यापरे ।
 किं वातः परमुच्यते स्तुतिपदं यज्जीवनं देहिनां
 त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः ॥

भावार्थः—सद्यः गुणो से विभूषित होने पर भी यदि कोई
 नीच मार्ग का अवलम्बन करे तो उसको कौन रोक सकता है,
 इसी भाव को लेकर जल के सन्ध में यह अन्योक्ति है :—हे
 जल, शीतलता तुम्हारा एक सहज गुण है, स्वच्छता तुम्हारा
 स्वभाव है, तुम्हारी पवित्रता के बारे में क्या बहो—तुम इतने
 पवित्र हो कि तुम्हारे स्पर्श मात्र से दूसरे पवित्र हो जाते हैं ।
 इससे बढ़कर और क्या तुम्हारी स्तुति में वह मन्ते हैं, कि तुम
 प्राणीमात्र के जीवन हो । इनके पर भी यदि तुम नीच मार्ग पर
 जाते हो, तो तुम्हें कौन रोक सकता है ? जल सदा नीचे की
 ओर बहता है, इसी पर यह अन्योक्ति है ।

३२८

अन्यासु तावदुपमर्वसहासु भृङ्ग
 लोलं धिलोलय मनः सुमनोलतासु ।
 मुग्धामजातरजसं कलिकामफाले
 बालां कदर्ययसि किं नवमल्लिकायाः ॥

भावार्थ :—रे अमर, अभी तू ऐसी दुष्प्र-लताप्रो पर, जो तेरा मर्दन और भार सह सकें, जाकर अपना मनो-विनोद कर । इस नवमल्लिका की नन्ही कली को, जिसके खिलने का अभी समय भी नहीं है और न जिसमें अभी पराग ही आया है; व्यर्थ को क्यों तंग कर रहा है ? इसी भाव का एक दूसरा श्लोक भी नीचे देखिये ।

३२६

यावन्त कोषविकासं प्राप्नोतीपन्मालती-कलिका ।
मकरन्दपानलोभयुक्त अमर तावदेव मदंयसि ॥

भावार्थ :—अभी तो वह मालती की कली थोड़ी खिली भी नहीं है । ऐ रस का लोभी भौरा, तू अभी से ही उसका मर्दन करने लगा !

इन दोनों ऊपर दिये गये श्लोकों का भाव लेकर ही, विहारो ने अपना यह प्रसिद्ध दोहा, जयपुर के प्रसिद्ध महाराज जयसिंह को चैतावती के रूप में लिखा था :—

नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास को काल ।
अली कली ही तो फंम्यों, आगे कौन हवाल ॥

३३०

स्विति रे नो दध्याः क्षणमपि मदान्धेक्षण सखे
गजश्रेणीनाथ त्वमिह जटिलायां वनभुवि ।

असौ कुंभिभ्रान्त्या खरनिखरविद्रावितमहा-
गुरुप्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः ॥

भावायं :—किसी ऊँचे पद या स्थान पर कोई मनुष्य तभी तक कब्जा जमाये रहता है, जब तक कि कोई दूसरा योग्य व्यक्ति उस पर अधिकार करने के लिये नहीं आता। योग्य व्यक्ति के आने पर फिर उसको भागना पड़ता है। इसी भाव की यह अन्वयोक्ति है। कवि किसी मतवाले हाथी को सम्बोधन करके कहता है:—रे गजराज, तेरी आँखें मद से अन्धी हो रही हैं, तुझे सूझ नहीं पड़ता कि जिस गहन वन में तू अभी ठहरा है, वहाँ तेरा रहना ठीक नहीं है। हे मित्र, मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि अपना भला चाहते हो, तो यहाँ से तुरन्त चले जाओ। क्योंकि मृगराज सिंह, हाथी ने भ्रम से, अपने तीक्ष्ण नखों से, पत्थर की बड़ी शिला को विदीर्ण करने के बाद, देखा, पहाड़ की गुफा में सो रहा है। जागेगा तो तुम्हारा कही पता भी नहीं चलेगा। पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्वोक्ति का हिन्दी पद्यानुवाद किसी ने इस प्रकार किया है :—

स्वामी कुजरकुन्द के इस घने वान्तार के भीतर
रे एय शय भी न तू ठहरना उन्माद में आवर ।
हाथी जान शिला विदीर्ण करके पड़े नखों से निरी
सोता है गिरिगर्भ में यह महामायावृत्ती केसरी ॥

३३१

नीरक्षीरविद्येके हंसालस्यं त्वमेव तनुये चेत् ।
विश्वस्मिन्तपुनान्यः कुतस्तं पालयिष्यति कः ॥

भावार्थः—ऐसा कहते हैं कि हस नीर और क्षीर (दूध और पानी) को अलग-अलग करके, दूध को पी लेता है और पानी को छोड़ देता है, यही उसका स्वाभाविक धर्म है। इस पर कवि की अन्योक्ति है—हे हस, नीर और क्षीर का विवेक करने में यदि तुम्ही आलस्य और ढील करोगे, तो बताओ इस ससार में फिर कौन अपने कुल की मर्यादा का पालन करेगा ? हिन्दी के किसी कवि ने पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्योक्ति का अनुवाद इस प्रकार किया है—

नहिं करिहो जब हस तुम, नीर क्षीर पहचान ।
रखिहै कुल मरजाद तब, जग मेंह कौन सुजान ॥

३३२

समुपागतवति दैवादवहेलां कुटज मधुकरे माङ्गाः ।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयं महामान्यः ॥

भावार्थः—कोई गुणी, विद्वान्, प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि किसी साधारण मनुष्य के यहाँ दैवात् चला जाय, तो उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। इसी भाव को इस अन्योक्ति में प्रगट किया गया है :—हे कुटज, तेरा अहोभाग्य है जो यह भीरा तेरे पास भक्तस्मात् आ गया है। यह तेरे जैसे पुष्पों के पास आता कहाँ है ? इसकी प्रतिष्ठा तो वे कमल करते हैं जिनमें मकरन्द ठूँस ठूँस कर भरा हुआ है। इसका पद्यानुवाद हिन्दी में इस प्रकार है—

बड़े भाग आयो मधुप, कुटज न कर अपमान ।
यह विशेष मकरन्दजुत, कमल के मेहमान ॥

३३३

तावत् कोकिल चिरसान्
 यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन् ।
 यावन् मिलदलिमालः
 कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥

भाषार्थः—जब तक अपनी योग्यता और प्रतिष्ठा के अनु-
 कूल समय न आवे, तब तक अनुप्य को कही बैठकर अपने
 प्रतिकूल समय को काटते हुए, चुपचाप अनुकूल अवसर की
 प्रतीक्षा करनी चाहिए । इसी भाव को लक्ष्य करके यह अन्योक्ति
 कही गयी है :—हे कोकिल, तब तक अपने प्रतिकूल इन नीरस
 दिनों को किसी वन में बस कर चुपचाप काट देना चाहिये, जब
 तक कि आम के वृक्षों पर फिर मंजरी न आ जाय और भौरे
 फिर उस पर महराने न लगे । पण्डितराज जगन्नाथ की इस
 अन्योक्ति का हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार हैः—

बितवहु कोकिल अनत बसि, नीरस दिवस दिमाल ।
 नहि जबसो मिलिमालजुत, बिससत गरस रमाल ॥

३३४

येनामन्दमरन्दे दलदरचिन्दे दिनान्यनापिपत ।
 कुटजे एतु तेनेहा तेने हा मधुकरेण कयम् ॥

भाषार्थः—जिस भौरे ने अपनी उम्र के सारे दिन सिते
 हुए कमल के पुष्पों में बिताये थे, यही अब निवृष्ट कुटज के

पुष्पों के साथ प्रेम करने लगा, इससे बढ़ कर खैद की बात और क्या है ? किसी कविने इसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार किया है:—

बहु दिन विकसित कमल मँह, बितयो मधुकर जीन ।
हा ! अब कैसे कुटज मँह, परम प्रेम कियो तीन ॥

३३५

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।
स पल्वलजलेऽधुना मिलवनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥

भावार्थ:—पहले जो अच्छी दशा में रहा हो, बाद में उसकी दशा बिगड़ जाने से कैसी शोचनीय परिस्थिति हो जाती है, इसी भाव को इस अन्योक्ति में दर्शाया गया है:—पहले जिस राजहंस ने अपनी सारी आयु ऐसे मानसरोवर में बितायी हो, जिसका जल सारसों की पंक्ति से बिखरे हुए कमल के पराग से सुरभित हो रहा था, वह अब एक गन्दे जलवाले तालाब में, जहाँ मेढकों के समूह अपनी टर-टर लगाये हुए हैं, बताओ अब कैसे अपना दिन बितावे ? पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्योक्ति का किसी कवि ने हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार किया है:—

जो परागजुत पद्म गन्ध तं नीर सुवासित,
मानसरोवर माँहि बितायो वय अपनो नित ।

सो अनेक मंडूक-सहित पल्लव मंह वासर,
कहो वितावे कस मराल कुलनाथ गुणाकर ॥

३३६

मुंच मुंच सलिलं वयानिधे
नास्ति नास्ति समयो विलम्बने ।
अद्य चातककुले मृते पुन-
वारि वारिधर किं करिष्यति ॥

भाषार्थः—समय पर दान देने से लाभ होता है, समय बीत जाने पर उस दान से क्या लाभ ? 'का वर्षा जब धृषी सुखाने'—इसी भाव को लेकर यह अन्योक्ति हैः—हे दया के सागर मेघ ! शीघ्र-शीघ्र अपने जल की वर्षा करो, - विलम्ब करने का समय अब नहीं रहा । जब चातक सब मर जायेंगे, तब फिर तुम्हारे जल का दान देने से क्या लाभ ?

३३७

पाटीर तव पटोयान् कः परिपाटीमिमापुरोक्तुम् ।
यत्पिपतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥

भाषार्थः—अपकार करने वाले के प्रति भी जो उपकार करता है, यह धन्य है । इसी भाव की यह अन्योक्ति हैः—हे चन्दन, तुम्हें जो पीसते हैं उनको तुम अपने परिमल से पुष्टि देते हो—तुम्हारी इस अनोखी परिपाटी का तुम्हारे सिवा और कौन पासन कर सकता है ? पण्डितराज जगन्नाथ की इस

अन्योक्ति का किसी हिन्दी कवि ने पद्यानुवाद इस प्रकार किया है:—

चन्दन यह तेरो चलनि, चलि को सक जग माहि ।

जऊ तोहि घरसत मनुज, तऊ देत सुख ताहि ॥

हास्य और व्यंग

३३८

एका भार्या प्रकृतिमुखरा चंचला च द्वितीया
पुत्रस्त्वैको भुयनविजयी मन्मथो दुर्निवारः ।
शेषः शय्या शयनमुदधौ वाहनं पन्तगारिः
स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं दारुभूतो मुरारिः ॥

भावार्थः—जगन्नाथ जी की मूर्ति काठ की क्यों है, इसपर किसी कवि की अनोखी सूझ है—विष्णु की एक स्त्री सरस्वती है, जो स्वभाव से ही बड़ी वाचाल है—दिन भर बक बक करती रहती है । दूसरी स्त्री लक्ष्मी है जो महा चंचला है—एक जगह स्थिर होकर नहीं रहती । कामदेव नामका एक ही पुत्र है, जो अपने कहने में नहीं है—ससार को विजय करने में लगा हुआ है । विष्णु भगवान् सोते किस पर हैं ? शयनाग पर । रहने का स्थान कहाँ है ? समुद्र में । वाहन क्या है ? सर्पों का शय, गरुड़ । अपने घर का यह सब चरित्र देखते-देखते विष्णु भगवान् काठ के हो गये । वही जगन्नाथ जी हैं ।

३३९

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुर्ये किन्तेन मद्यं विना
मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो चारांगनाभिः सह ।

वैश्याप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतः नष्टस्य कान्या गतिः ॥

भाषार्थः—एक जैन साधु को मास-भक्षण करते हुए देखकर कवि उससे पूछना है—“भरे भिक्षु, तू मास खाता है ?” साधु—“मास तो खाता हूँ, किन्तु बिना शराब के मास का क्या मजा ?” कवि—“भरे तू शराब भी पीता है ?” साधु—“हाँ, शराब भी वैश्याओं के साथ कभी-कभी पी लेता हूँ।” कवि—“भरे वैश्या तो धन की लोभी होती है, तेरे पास धन कहाँ से आता है ?” साधु—“जब कभी जुमा खेल लेता हूँ या चोरी कर लेता हूँ, तो धन आ जाता है।” कवि—“भरे तू जुमा भी खेलता है और चोरी भी करता है ?” साधु—“भरे, आप क्या पूछते हैं ? जो नष्ट हो गया हो, उसकी और गति ही क्या है ?”

३४०

अतुं वाञ्छति वाहनं गरुपतेराक्षं क्षुधात्तः फली
तं च कौंचरियोः शिखी च गिरजासिंहोऽपि नागाननम् ।
गौरी जन्हुसुतामसूयति कलानाथं कपालाननो
निविष्णः स पपी कुटुम्बकलहादोऽपि हाताहलम् ॥

भाषार्थः—भगवान् महादेव ने हालाहल (विष) का पान क्यों किया, इस पर किसो कवि की अनोखी वृत्तना है—महादेव जी के एक पुत्र गरुपेश जी हैं, उनके वाहन चूहे को महादेव जी

की जटा में लिपटा हुआ सर्प, क्षुधा-पीडित होकर, खाने को दौड़ रहा है। महादेव जी के एक दूसरे पुत्र स्वामि कार्तिकेय हैं, उन का वाहन मोर उस सर्प को खाना चाहता है। महादेव जी की स्त्री पार्वती का वाहन सिंह भी गणेश को हाथी समझ कर, उससे लड़ने को तैयार है। महादेव जी की दो पत्नियाँ पार्वती और गंगा हैं, जो दोनों परस्पर सीलिया डाह से जला और आपस में लड़ा करती हैं। महादेव जी का एक गण कपालानन नाम का है, जो महादेव जी के भाल में स्थित चन्द्रमा से ईर्ष्या करता है—इस प्रकार अपने पारिवारिक कलह से ऊबकर महादेव जी ने, इस युक्त से बचने के लिये, हाहाहल (जहर) पी लिया। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी !

३४१

केचिद्वदन्त्यमृतमस्ति सुरालयेषु

केचिद्वदन्ति प्रमथाधरपल्लवेषु ।

अमो वयं सकलशास्त्रविचारदक्षाः

जंभीरनीरपरिपूरितमत्स्यलण्डे ॥

भावार्थः—कोई कहते हैं कि अमृत स्वर्ग में है और कोई कहते हैं कि अमृत कामिनी स्त्रियों के अधरोष्ठ में है। किन्तु मैं सब मामलों को विचारपूर्वक अध्ययन और मनन करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि यदि अमृत कहीं है तो वह जंभीरी नीबू के रस से भरे हुए, मछली के टुकड़े में है, और वहीं भी नहीं है !

कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगस्यात्र किम्
 कृष्णोऽहं दयिते विभेमि सुतरां कृष्णादहं वानरात् ।
 राधेऽहं मधुसूदनो व्रज लतां तामेवतन्वीमलं
 इत्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्लीणो हरिः पातु वः ॥

भावार्थ :—इस श्लोक में राधा और कृष्ण का संवाद
 अत्यन्त विनोदपूर्ण है :—

कृष्ण राधा के यहाँ आकर द्वार खटखटा रहे है । इस पर
 राधा पूछती है—“दरवाजा कौन खटखटा रहा है ?” कृष्ण—
 “मैं हरि हूँ ।” राधा—“यदि हरि (वन्दर) हो तो वन में जाओ,
 यहाँ तुम्हारा क्या काम है ?” कृष्ण—“प्रियतमे, मैं कृष्ण हूँ”
 राधा—“यदि कृष्ण (काला मुह वाला लंगूर) हो तो उससे तो
 मैं और भी डरती हूँ ।” कृष्ण—“राधे ! मैं मधुसूदन हूँ”
 राधा—“यदि मधुसूदन (मधु के लोभी भौंरा) हो, तो किसी
 सुकुमार लता पर जाओ ।” इस प्रकार प्रियतमा राधा से
 उत्तर-प्रत्युत्तर में हराये गये, हरि आपकी रक्षा करें !

कस्त्वं शूली मृगय भिषजं नीलकण्ठः प्रियेऽहं
 केकामेकां कुरु पशुपतिर्नैव दृश्ये विषाणो ।
 स्थाणुमुग्धे न वदति तरुर्जीवितेशः शिवायाः
 गच्छाटव्यामिति हतवचाः पातु वश्चन्द्रचूडः ॥

भाषार्थः—इस श्लोक में प्रश्नोत्तर के रूप में शिव और पार्वती की व्यगावली बड़ी सुन्दर है :—

पार्वती—“तुम कौन हो ?” शिव—“मैं शूली (त्रिशूल-धारो शिव) हूँ ।” पार्वती—“यदि तुम शूली (शूल रोग से पीड़ित) हो, तो किसी वैद्य के पास जाओ ।” शिव—“प्रिये मैं नीलकण्ठ (महादेव) हूँ ।” पार्वती—“यदि तुम नीलकण्ठ (मोर) हो, तो केका (मोर की बोसी) बोलो ।” शिव—“मैं पशुपति (महादेव) हूँ ।” पार्वती—“यदि तुम पशुपति (बैल) हो तो तुम्हारे सींग कहाँ हैं ?” शिव—“मुग्धे ! मैं स्याणु (महादेव) हूँ ।” पार्वती यदि तुम स्याणु (वृक्ष) हो, तो वृक्ष तो धोल नहीं सकता, परन्तु तुम बोलते हो ।” शिव—“मैं शिवा (पार्वती) का पति हूँ ।” पार्वती—“यदि तुम शिवा (शृगाली) के पति शृगाल हो तो वन में जाओ, यहाँ तुम्हारा क्या काम है ?” इस पर महादेव जी वचन-रहित होकर, छुप हो गये और कोई जवाब उन्हें नहीं सुझा । ऐसे हतवचन चन्द्रचूड़ महादेव भगवान् आपकी रक्षा करें !

३४४

सहस्रास्यो नागः प्रभुरपि मतः पञ्चवदनः
पडास्यो हन्तकस्तनय इतरो वारणमुलः ।
सदा भक्ष्यं दाश्वत्प्रभवतु कथं वर्त्तनमिति
श्वसन्त्यां पार्यत्यामथ जयति शंभुः स्मितमुखः ॥

भाषार्थः—इस श्लोक में महादेवजी के परिवार का वर्णन

बड़े विनोदपूर्ण रूप से किया गया है :—एक तो हजारमुखवाला नागराज उनके शरीर के साथ लपटा हुआ है, अतएव उसके खिलाने की समस्या है। फिर महादेव जी स्वयं पंचमुखी (पाँच मुख वाले) है, उनके पाँच मुखों को खिलाना एक दूसरी समस्या है। दो पुत्र हैं—एक षडानन (छ मुखवाले कार्तिकेय), दूसरे गजानन (हाथी के मुख वाले)। जीविका का कोई बन्धा हुआ साधन नहीं, सदा भोज पर गुजारा करना पड़ता है। तो फिर गृहस्थी कैसे चलेगी, इस प्रकार शोच में बैठी हुई पार्वती को देखकर, महादेव जी हंस पड़े। ऐसे हसते हुए महादेव जी सबका मंगल करें !

३४५

विष्णोरागमनं निशम्य सहसा कृत्वा फणीन्द्रं गुणं ।
 कौपीनं परिधाय चर्म करिणः शंभुः पुरो धावति ।
 दृष्ट्वा विष्णुरथं सकम्पहृदयः सर्पोऽपतद् भूतले
 कृत्तिविस्खलिता ह्रिया नतमुखो नग्नो हरः पातु वः ॥

भावार्थः—यह सुनकर कि विष्णु भगवान् मिलने के लिए आये हुए हैं, दिगम्बर महादेवजी जल्दी के मारे सर्पराज को डोरी के रूप में कमर में बांध कर और उस में हाथी के चर्म की कौपीन (लगोटी) कस कर, विष्णु का स्वागत करने के लिए, आगे दौड़े। पर इतने में विष्णु के बाहन, गरुड़ को देखकर भय से कम्पित होकर सर्प, जो कमर में बंधा था, पृथ्वी पर गिर गया और उसके साथ ही लगोटी भी खसक गयी। शिव भगवान् नग्न हो गये

और लज्जा के मारे उन्होंने अपना सिर नीचे कर लिया । ऐसे दिगम्बर भगवान् आपकी रक्षा करें !

३४६

किं गोत्रं किमु जीवनं किमु धनं का जन्मभूः किं वयः
किं चारिष्यममुष्य के सहचराः के वंशजाः प्रावतनाः ।
का माता जनकः शिवस्य क इति प्रह्वेण पृथ्वीभृता
पृष्टाः सस्मितनम्रमूकवदनाः सप्तर्षयः पान्तु वः ॥

भावार्थः—पार्वती के विवाह के समय, इश्वर हिमालय ने अपने भावी जामाता महादेव के सम्बन्ध में सप्तर्षियों से पूछा कि इनका गोत्र क्या है ? इनकी जीविका का साधन क्या है ? इनके धन क्या है ? इनकी जन्मभूमि क्या है ? इनकी आयु क्या है ? इनका चरित्र कैसा है ? इनके साथी-सगी कौन हैं ? इनके पूर्वपुरुष कौन हैं ? इनके माता-पिता कौन हैं ? इन प्रश्नों को सुनकर सप्तर्षि लोग मुस्करा कर चुप हो गये और अपना मुख नीचे कर लिया । ऐसे सप्तर्षि आपकी रक्षा करें !

३४७

रामाद्याचय मेदिनीं धनपतेर्वीजं बलाल्लालं
प्रेतेशान्महिषं तवास्ति वृषभः फालं त्रिशूलं तव ।
शवताहं तव चान्नदानकरणे स्कन्दोऽस्ति गोरक्षणे
खिन्नाहं हर भिक्षया कुरु कृपि गौरीवचः पातु वः ॥

भावायः—महादेव जी को भीख मांगकर जीविका चलाते हुए देखकर, पार्वती जी बहुत खिन्न होकर, खेती करने की सलाह देती हुई कहती है—“स्वामिन्, परशुराम से खेती के लिए थोड़ी-सी भूमि, कुबेर-से थोड़ा-सा बोज, बलराम से हल, यम से भैंसा मागकर खेती करिये । बैल आपके पास है ही और त्रिशूल आप का हल के फाल का काम दे देगा । भोजन मैं बना ही सकती हूँ । स्वामि कातिकेय गौ की रखवाली कर लेगा । भीख पर गुजारा करने से मैं ऊब गयी हूँ” महादेव जी से पार्वती का यह अनुरोध आपकी रक्षा करे !

३४८

लोले, ब्रूहि कपालिकामिनि, पिता कस्ते, पतिः पाथसां,
कः प्रत्येति जलादपत्यजननं, प्रत्येति यः प्रस्तरात् ।
इत्थं पर्वतसिन्धुराजसुतयोराकर्ण्य वाक्चातुरीं
संस्मेरस्य हरेर्हरस्य च मुदो निघ्नंतु विघ्नं तु वः ।

भावायः—मंगलाचरण के रूप में लक्ष्मी और पार्वती का व्यंगपूर्ण यह प्रश्नोत्तर बहुत सुन्दर है—

पार्वती व्यंग से कहती हैं—“बचले !” लक्ष्मी भी उसी व्यंग के साथ उत्तर देती हैं—“कपालि (सप्पर लेकर भीख मागने वाले भिखारी शिव) की पत्नी, बोलो क्या कहना चाहती हो ?” पार्वती—“तुम्हारा पिता कौन हैं ?” लक्ष्मी—“मेरे पिता हैं जलों के राजा समुद्र ।” पार्वती—“कौन विश्वास करेगा कि जल से सन्तान की उत्पत्ति होती है ?” लक्ष्मी—“पत्थर से सन्तान की उत्पत्ति

हो सकती है जो यह विश्वास करेगा, वही जल से भी सन्तान की उत्पत्ति का विश्वास करेगा"—इस प्रचार पर्वतराज हिमालय तथा सिन्धुराज समुद्र की कन्या पार्वती और लक्ष्मी के बीच इस व्यंगपूर्ण विवाद को सुनकर, हरि (विष्णु) और हर (महादेव) दोनों मुदित होकर हँस पड़े। उनका यह मोद आपके विघ्नो का नाश करे।

३४६

आः पाकं न करोषि पापिनि कथं, पापी त्वदीयः पिता,
रण्डे जल्पसि किं, तथैव जननी रण्डा त्वदीया स्वसा ।
निर्गच्छ त्वरितं गृहाद्वहिरितो नेदं त्वदीयं गृह,
चेदेवं बहिरेमि गर्दभगृहान्नात्रावतिष्ठे क्षणम् ॥

भावार्थ.—एक ककंशा कुलटा का बालक, पति और पत्नी के सवाद के रूप में, इस श्लोक में है—पति—“रे पापिनी, खाना, क्यों नहीं पकाती ?” पत्नी—“मुझे पापिनी कहता है, पापी तू और तेरा पिता ।” पति—“रण्डे, तू बहुत जवान चला रही है ।” पत्नी—“रण्डा तेरी माता और तेरी बहिन ।” पति—“तू फौरन निकल जा मेरे घर से, यह तेरा घर नहीं है ।” पत्नी—“गधे, यदि ऐसी बात है, तो मैं इस घर से तुरन्त जा रही हूँ, एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहरना चाहती ।”

३५०

आपाण्डुराः शिरसिजास्त्रिवली कपोले
दन्तावलिर्विगलिता न च मे विषादः ।

एणीदृशो युवतयः पथि मां विलोक्य
तातेति भाषणपराः खलु वज्रपातः ॥

भावार्यः—एक बूढ़ा रसिक अपने बूढ़ापे के नाम रोता हुआ कहता हैः—मेरे सिर के बाल सफेद हो गये, मेरे चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयीं, मेरे दान्त गिर गये, मुँह पीपला हो गया—इन सब बातों से दुःख मुझे नहीं है । किन्तु दुःख इस बात का है कि मृगनयनी, चन्द्रमुखी युवतियाँ जब मुझे रास्ते में मिलती हैं तो मुझे “बाबा” कहकर पुकारती है । यह मुझे वज्रपात के समान लगता है । केशव ने इसी भाव को लेकर अपना यह प्रसिद्ध दोहा लिखा हैः—

केशव केशन अस करी, अरिहू करिहै नाहि ।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहि ॥

३५१

या पाणिप्रहलालिता सुसरला तन्वी सुवंशोद्भवा
गौरी स्पर्शसुखावहा गुणवती नित्यं मनोहारिणी ।
सा केनापि हृता तया विरहितो गन्तुं न शक्नोम्यहं
रे भिक्षो तव कामिनी ? नहि नहि प्राणप्रिया घट्टिका ॥

भावार्यः—एक वृद्ध भिक्षारी की लाठी खो गयी । इस पर वह लोगों से अपने असौम्य दुःख का वर्णन करता हुआ, लाठी की प्रशंसा में कहता हैः—“जो सदा मेरे हाथ से लालित थी, मेरे हाथ का सहारा थी, जो अत्यन्त सीधी और अच्छे वंश (वंस)

मे जन्मी थी, जो तन्वी. एवहरे शरीर वाली और गौर वर्ण की थी, जिसका स्पर्श अति सुखदायक था, जो अनेक गुणों वाली थी, जो सदा ही मनोहर थी, उसको कोई हर ले गया है और उसके बिना मैं चलने में भी अममर्थ हो गया हूँ।" इस पर किसी ने पूछा कि "रे भिखारी, ता क्या वह तेरी घरवाली थी?" तब तुरन्त बात काट कर वह बोला—"नही नही। भाई, वह मेरी घरवाली नहीं थी। वह तो मेरी प्राणों से भी प्यारी लाठी थी।"

३५२

आहारे बडवानलश्च शयने यः कुंभकर्णयिते
सन्देशे बधिरः पलायनविधौ सिंहः शृगालो रणे ।
अन्धो वस्तुनिरीक्षणेऽथ गमने खंजः पटुः क्रन्दने
भाग्येनैव हि लभ्यते पुनरसौ सर्वोत्तमः सेवकः॥

भावार्थ.—जो भोजन में बडवानल के समान है, सोने में कुंभकर्ण के समान है, कोई बात कही जाय उसके सुनने में बहिरे के समान है, काम छोड़कर भाग जाने में सिंह के समान है, रण में हिम्मत दिखाने में सियार के समान है, क्या उचित है क्या अनुचित, इसके देखने में अन्धे के समान है, चलने में झूले के समान है और रोने तथा हायहाय करने में जो परम पटु है—ऐसा सर्वोत्तम सेवक भाग्य से ही मिलता है ।

३५३

स्वयं पंचमुखः पुत्री गजाननपडाननी ।
दिगंबरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद्गृहे ॥

भावार्थः—महादेवजी की दरिद्रता और उस पर इतने बड़े परिवार के भरणपोषण की चिन्ता का वर्णन, व्यगपूर्ण ढंग से इस श्लोक में है—महादेवजी स्वयं तो पाचमुख वाले हैं। दो पुत्र हैं जो एक तो छ मुख वाला और दूसरा हाथी के मुख वाला है। एक मुख को खिलाना कितना कठिन होता है, फिर इतने मुखवालों का खिलाना कितना कठिन होगा, यह सहज ही अनुमान में आ सकता है। और तुरा यह कि पास में लंगोटी भी नहीं। ऐसी दशा में इतने बड़े कुटुम्ब का गुजारा कैसे होता, यदि साक्षात् अन्नपूर्णा उनकी घरवाली न होती। तब उन्हें आटा दास का भाव मानूम पड़ता ।

३५४

आवयोः मेलनं कान्त कदा कुत्र भविष्यति ।

यदि वेदाः प्रमाणं स्युः कुंभीपाके भविष्यति ॥

भावार्थ.—एक लपट पुरुष और एक कुलटा नारी दोनों आपस में मिले हैं। मिलने के बाद विदा होते समय, स्त्री अपने पार से पूछती है—“प्रियतम, अब हम दोनों का मिलना फिर कब और कहाँ होगा ?” इस पर पार उत्तर देता है—“यदि वेदों का प्रमाण ठीक है, तो अब हम दोनों का मिलन केवल कुंभीपाक नरक में ही होगा ।”

३५५

असारे खलु संसारे सारं स्वशुरमन्दिरम् ।

हरो हिमालये शेते हरिः शेते महोदधौ ॥

भाषार्थ — इस असार ससार मे यदि कुछ सार है, तो वह ससुर का घर है । यदि यह बात न होती, तो बताओ महादेवजी सब स्थानों को छोड़कर, अपनी ससुराल-हिमालय मे क्यों वास करते और विष्णु भगवान् सब स्थानों को त्याग कर, अपने श्वसुरालय-समुद्र मे ही क्यों शयन करते ?

३५६

कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये ।

हरिः क्षीरोदधौ शेते मन्ये मत्कुणशंकया ॥

भाषार्थ :—लक्ष्मीजी कमल मे, महादेवजी हिमालय मे, विष्णु भगवान् क्षीरसागर मे क्यों सोते है ? इस पर खटमल से सताए हुए किसी कवि की अनोखी सूझ है — “मैं समझता हूँ कि केवल खटमल के डर के भारे ही लक्ष्मी कमल मे, महादेव जी हिमालय मे और विष्णु भगवान् क्षीर-सागर मे शयन करते हैं । क्योंकि वहाँ तो खटमल नहीं पहुँचेंगे ?”

३५७

वासः प्रधानं खलु योग्यतायाः

वासोविहीनं विजहाति लक्ष्मीः ।

पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ तनूजां

दिगम्बरं वीक्ष्य वियं समुद्रः ॥

भाषार्थ — वस्त्र ही से शोभा होती है और वही प्रतिष्ठा का मूल कारण है, बिना वस्त्र के लक्ष्मी भी किसी को नहीं

पूछती । देखो, समुद्र ने विष्णु को पीताम्बर आदि उत्तम वस्त्र धारण किये हुए देख कर ही, अपनी कन्या लक्ष्मी उन्हे सौंप दी और महादेव को दिगम्बर (नग्न) देखकर केवल विष ही उनको भेट किया ।

३५८

रे रे घरट्ट माऽरोदीः कं कं न भ्रामयन्त्यमूः ।

कटाक्षक्षेपणादेव कराकृष्टस्य का कथा ॥

भावार्थः—जांते (चक्की) की घर घर आवाज सुनकर कवि कहता हैः—रे घरट्ट (जांते) तुम क्यों रो रहे हो ? अरे ये स्त्रियां किस-किसको अपने कटाक्ष भाव से नहीं घुमाती । फिर तुम्हे तो स्वयं अपने हाथों से ही चक्कर खिला रही हैं । तेरी क्या बात है !

३५९

अथः पश्यसि किं वृद्धे पतितं तव किं भुवि ।

रे रे मूढ़ न जानासि गतं तारुण्यमोक्तिकम् ॥

भावार्थः—एक मसखरा किसी बुढ़िया से, जो कमर झुकाये हुए चल रही है, मजाक के तौर पर पूछता हैः—“ऐ वृद्धे, कमर झुकाए हुए तू नोचे क्या देख रही है ? क्या ज़मीन पर तेरा कुछ गिर गया है, जिसे तू ढूँढ़ रही है ?” इस पर बुढ़िया भी व्यगभरा जबाब देती हैः—“रे मूर्ख, क्या तू नहीं जानता कि मेरी जवानो रूपी मोती गिर पडा है, उसी को

ढूँड रही है ।" इसी भाव का एक फारसी का शेर भी है :—
 चेरा खम् कर्दा भी गश्तन्द पीराने जहा सायव ।
 मगर दर खाक भो जूयन्द ऐय्यामे जवानीरा ॥

३६०

मृता मोहमयी माता जातो ज्ञानमयः सुतः ।
 सूतकं वर्तते नित्यं कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥

भावार्थः—एक मनुष्य ने किसी वेदान्ती से पूछा कि तुम सन्ध्या क्यों नहीं करते ? इस पर वह उत्तर देता है :—मेरी मोह रूपी माता मर गयी है और मेरे ज्ञानरूपी पुत्र पैदा हुआ है । रोज तो मुझे सूतक लगा रहता है, फिर सन्ध्या कैसे कर्ल ?

३६१

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः ।
 मृदंगो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम् ॥

भावार्थः—किसी का पेट भर दोजिये, या घूस दे दीजिये, तो वह कैसा आपके वश में हो जाता है और आप जैसा कहें वैसा बोलने लगता है—इसी बात को व्यंगरूप में कवि ने इस प्रकार कहा है—मुख को यथेष्ट उपहार से भर देने पर, कौन ऐसा है जो वश में नहीं हो जाता ? मृदंग को ही देखो, उसके मुख पर घाटे का लेप करने से, वह कैसी मीठी बोल निकालने लगता है ।

३६२

श्रुत्वा पडाननजनुर्मुदितान्तरेण
 पंचाननेन सहसा चतुराननाय ।
 शाद्वलचर्मं भुजगाभरणं सभस्म
 दत्तं निशम्य गिरिजाहसितं पुनातु ॥

भावार्थः—घर में बालक पडानन (छः मुख वाला कार्तिकेय) पैदा हुआ है यह सुनकर पंचानन (पांच मुख वाले महादेवजी) अतीव प्रसन्न हुए और खुशी में भरकर उन्होंने थोड़ा-सा भस्म, व्याघ्रचर्म और सर्परूपी आभूषण चतुरानन (चार मुख वाले) ब्रह्मा को उपहार के रूप में भेंट किया। इसके सिवा दिगम्बर के पास और था ही क्या ? यह सुनकर, गिरिजा पार्वती हँस पड़ी। उनका यह हँसना मंगलकारी हो !

३६३

चतुरः सखि मे भर्ता
 स यल्लिखति तदपरो न वाचयति ।
 तस्मादप्यधिको मे
 स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति ॥

भावार्थः—ओ मयियाँ आपस में अपने अपने पति की चतुर्बाई की प्रशंसा कर रही हैं। एक कहती है कि मेरा पति ऐसा होगियार है कि वह जो लिख देता है, उसे दूसरा कोई नहीं

बाच सकता । इस पर दूसरी सखी कहती है कि इसमें होशियारी की क्या बात है ? मेरा पति तो ऐसा चतुर है, कि अपना लिखा स्वयं आप भी नहीं बाँच सकता, दूसरे की बात ही क्या है ?

३६४

बिलाद्वहिर्बिलस्यान्तःस्थितमार्जारसर्पयोः ।

मध्ये चाखुरिवाभाति पत्नीद्वययुतो नरः ॥

भावार्थः—दो पत्नी वाले मनुष्य की कैसी दुर्दशा होती है, इसका वर्णन इस श्लोक में है—दो पत्नियों के बीच मनुष्य की दशा उस बूढ़े के समान होती है, जिसकी बिल के बाहर बिल्ली ताक में बैठी हुई है और बिल के भीतर साँप उसे खाने के लिये तैयार है, न वह इधर जा सकता है, न उधर ।

३६५

उष्ट्रकाराणां विवाहेषु गर्दभाः स्तुतिपाठकाः ।

परस्परं प्रशंसन्ति अहोरूपमहो ध्वनिः ॥

भावार्थः—दो मूर्ख और मिथ्याभिमानी पुरुष आपस में 'क' दूसरे की किस प्रकार प्रशंसा करते हैं, इसको व्यंग रूप में 'वि' कहता है—ऊँट जैसे सुन्दर आकृति वाले के विवाह में, उसके अनुरूप ही स्तुतिपाठ करने वाले भी होने चाहिए । इस-लिए अत्यन्त मधुर स्वर में गाने वाले गद्गहे स्तुतिपाठ करने के लिए

बुलाये गये । अब दोनों की जोड़ी बैठ गयी और एक दूसरे की प्रशंसा करने लगे । गदहो ने ऊँटो की प्रशंसा में कहा कि “वाह क्या सुन्दर रूप भगवान् ने आपको दिया है ।” और ऊँटो ने गदहो की प्रशंसा में कहा कि “वाह क्या सुरीली आवाज आपने पायी है ।”

३६६

चिता प्रज्वलितां दृष्ट्वा वैद्यो विस्मयमागतः ।

नाऽहं गतो न मे भ्राता कस्येदं हस्तलाघवम् ॥

भावार्थ — किसी के शव को चिता पर जलते हुए देख, आश्चर्य में भरकर एक वैद्य कहता है — इसकी चिकित्सा करने के लिए न तो मैं गया, न मेरा भाई गया, फिर यह किसके हाथ का चमत्कार है ? किसके हाथ से इसकी रोग से मुक्ति हुई ? रोग भी जाता रहा और साथ ही रोगी भी जाता रहा !